बुद्धदेव

मूल लेखक

श्रीशरत्कुमार राय

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२५

सवा रुपया

Published by
K Mittra,
at The Indian Press, Ltd ,
Allahabad

Printed dy
Bishweshwar Prasad,
at The Indian Press, Lt
Benares-Branch

निवेदन

इस पुस्तक में महापुरुष बुद्धदेव की साधना का संक्षिप्त इतिहास और उनके स्थूल उपदेशों का सार वर्णित है।

ऐतिहासिक के समीप कोई विशेष व्यक्ति, स्थान या समय अपनी सीमा के भीतर आबद्ध है, किन्तु भक्त की दृष्टि में इस सीमा का पता ही नहीं रहता। जैसा सारा भूमण्डल है वैसा व्रजमण्डल है, किन्तु वैष्णव की दृष्टि में व्रजभूमि अतुलनीय है। उसे जिसके दर्शन नहीं होते उसी की वह पूजा करता है। महाप्रभु चैतन्यदेव का जिस समय जन्म हुआ था उस समय भी दिन-रात आजकल की ही तरह होते थे, किन्तु उस पुण्य युग में अपना जन्म न होने के कारण बङ्गाल के अनेक भक्त वैष्णवों ने अपने जीवन को व्यर्थ माना है।

बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और चैतन्य प्रभृति जिन महापुरुषों ने इस संसार में जन्म लिया है उन्होंने सिर्फ इस जगत् को ही पवित्र नहीं किया वरन् वे तो हमारा अनन्त उपकार कर गये हैं। वे हमारे आत्मा को सजीव कर गये हैं, हमारे आत्मा को खाद्य दे गये हैं। इस लोक की मिट्टी में जो रत्न है और

आकाश में जो सार है उसे ग्रहण करने में हम लोग समर्थ नहीं। उसे वृक्ष चुपचाप ग्रहण करते हैं और हम लोग वृक्षों के उपार्जित फल, फूल, पत्ते, गूदा आदि से अपना निर्वाह करते हैं। आकाश मे और मिट्टी मे जो सार है वह निर्जीव (Inorganic) है, उसमे जीवन का सञ्चार करके सजीव (Organic) कौन कर देता है ? वही वृक्षश्रेणी। जीव और जड के बीच में ठहर कर वृक्षश्रेणी लगातार जड-लोक से सारा सार लेकर जीवों के ग्रहण करने योग्य बना देती है। भक्त को वैष्णवों ने वृक्ष की उपमा दी है, यद्यपि इस वैज्ञानिक रहस्य को वे जानते न थे।

ससार में न जाने कितना ज्ञानगम्य सत्य है जिसमें जीवन का सञ्चार नहीं किया गया है। उसे हम ज्ञान से जानते तो हैं किन्तु हृदय से ग्रहण नहीं कर सकते। उसी निर्जीव सत्य को ये महापुरुष साधन करके उसमें रूह फूँक देते हैं, उस समय सब लोग उस सत्य को ग्रहण करने लगते हैं। घास चरने में असमर्थ प्राणियो के लिए गायें घास चरकर ऐन मे दूध सञ्चित कर देती हैं, अन्न खाने में असमर्थ बच्चों के लिए माता स्तनो में अमृतरस भर लेती हैं। इससे जीवो को परितृप्ति होती और बच्चे जीवित रहते हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि परमेश्वर चराचर का पिता है। किन्तु महापुरुष मसीह ने आकर ज्योंही पुत्रत्व का साधन किया त्योंही संसार के न जाने कितने मनुष्यों का, भगवान् को पिता

मानने से, उद्धार हो गया। सभी जानते हैं कि भगवान् त्रैलोक्यपति हैं, किन्तु इस प्रेम-सम्बन्ध का साधन चैतन्यदेव ने ही किया। उस रस के मिलने से वैष्णवों का बेड़ा पार हो गया।

इसी से कहा था कि महापुरुषगण जब निर्जीव सत्यसमुच्चय को साधना-द्वारा सजीव कर देते हैं तब सत्य हमारे लिए जिज्ञास्य नहीं रह जाता, तब वह हमारे अन्तर का खाद्य और प्राण का आश्रय हो जाता है।

इस पन्थ में कठिनाइयाँ भी हैं। भला ऐसी कौन-सी मूल्यवान् निधि है जो मनुष्य को सेंत मिल गई है? इसका भी मूल्य देना पड़ता है और वह भी बहुत विषम। ज्ञान जब तक निर्जीव रहता है तब तक सड़ता नहीं है किन्तु सजीव होने पर वह प्राण-हीन होते ही, सजीव वस्तु की भाँति, सड़ने लगता है। धर्म का इस प्रकार विकार होने पर संसार में जितना खूनखराबा और महा अनर्थ हुआ है उतना क्या तुच्छ स्वार्थ-साधन करते समय भी हुआ है?

सजीव सत्यसमुच्चय को मनुष्य ने अब तक इसी तरह ग्रहण किया है और इस सङ्कट से बचकर साधना करने का सीधा उपाय अब तक निकला भी नहीं। जो लोग बहुत अधिक चौकन्ने होने को जाते हैं उनके चातुर्यपूर्ण अनेक बन्धनों से ही सत्य के प्राण उड़ गये हैं। भला ऐसा उपाय कहाँ है जहाँ सत्य भी सजीव रहे और कठिनाइयों का सामना न करना पड़े! इसका

उपाय एक ही है जो सबसे सरल और सबसे उदार है। किन्तु इसी कारण वह अत्यन्त कठिन है। वह उपाय है सदा प्राणवान् रहना। आचार-व्यवहार, ज्ञान, मत, साधना, सेवा कहीं भी प्राणहीन न रहे,—ऐसा हो तो इस गली में विकार का प्रलय कुछ नहीं कर सकता।

महापुरुष लोग सत्य को सजीव कर देते हैं इस कारण साधकमण्डली उनका बहुत-बहुत उपकार मानती है। ऐतिहासिक लोग उन महापुरुषों को उसी दृष्टि से देखते हैं जिस से कि अन्यान्य मनुष्यो को। इस कारण वे उन्हे स्थान, काल, घटना और अन्य सीमाओं में आवद्ध किये बिना नहीं रह सकते। किन्तु साधक लोग महापुरुषों को बाहरी इन्द्रियों के लोक में नहीं लाते, वे तो उन्हें एकदम अन्तर के लोक मे ले जाकर अपने मन का कर लेते हैं। उस दशा में सीमा या परिमाण का खयाल नहीं रहता। यही कारण है कि भक्तो के मन में महापुरुष सदा सीमा से परे रहते हैं। ऐतिहासिक की निगाह मे ईसा एक मनुष्य है, पुण्यवान् और सच्चरित्र होने पर भी वह उसके लिए मनुष्य ही है, किन्तु ईसाई-साधक की दृष्टि में वह प्रेमलोक-विहारी है इसलिए उसे स्थान, काल और घटना की सीमा के भीतर नहीं रक्खा जा सकता।

ससार मे आदमियो की कमी नहीं है किन्तु हमारे घर मे जब बच्चा पैदा होता है तब हम बाजे बजवाकर हँसी-खुशी से उसका स्वागत करते हैं। मैला कुचैला दरिद्रो जिस दिन

दूल्ह बनकर विवाह करने जाता है उस दिन वह सचमुच 'नौशाह' हो जाता है, राजा भी उसके लिए रास्ता छोड देता है। उस दिन वह राजा से भी श्रेष्ठ हो जाता है। तो क्या हमारे अन्तर के प्रेमलोक में महापुरुष वही प्रतिदिन के फटे-पुराने कपडे पहनकर आवेंगे? क्या उनके पैर काँटो से क्षत विक्षत, उनका चेहरा धूप लगने से सूखा हुआ और देह भूख-प्यास के मारे दुबली होगी? नहीं, वे राजा की भाँति धूमधाम से विजय-वाद्य बजाकर, ऐश्वर्य से मण्डित होकर ही, आवेंगे।

साधकों के अन्तर मे जिस घडी महापुरुष प्रवेश करते हैं उसी घडी वे ऐतिहासिकजन-सुलभ सीमा को पार कर जाते हैं। उस समय न तो सीमा रह जाती है, न ओर-छोर रह जाता है और न किसी प्रकार का परिमाण ही। तब तो सभी अनन्त, असीम और अशेष हो जाता है। उस दिन तो वे एक-दम प्रेम-पारस के सिंहासन पर विराजमान हैं। इसी लिए बुद्ध के दो रूप हैं, एक रूप ऐतिहासिक दृष्टि से देख पडता है। वहाँ वे राजकुमार हैं, कपिलवस्तु उनकी जन्मभूमि है, निरञ्जना के तीर पर उन्होंने साधना की है, इत्यादि। दूसरा रूप है भक्त के हृदय में, वहाँ भक्त के हृदय-कमल में उनका जन्म हुआ है, त्रैलोक्य का ऐश्वर्य उनका भूषण है और सारी विचित्र घटनाएँ उनकी लीला है।

इस पन्थ में अनेक विपत्तियाँ हैं। तनिक भी प्राणहीन हुए कि सडने की क्रिया आरम्भ हुई। किन्तु साधना

है हृदय की वस्तु, प्रेम का धन। महापुरुष को अन्तरलोक में ले जाये बिना साधक नहीं मानते।

इसी कारण इतिहास में बुद्ध का एक रूप है और बौद्ध-साधक के निकट उनका दूसरा रूप है। वहाँ पर साधक उनकी पूजा करते हैं, बिलकुल बुद्ध की ही तपस्या करते हैं। इन दोनों रूपों में सामञ्जस्य कहाँ है? सामञ्जस्य की रक्षा करना बहुत ही कठिन है। सत्य की जरीब के आगे महापुरुष का चरित्र सूख जाता है और भक्त के प्रेम-जल से सींचने पर वह कई बार सड जाता है। सामञ्जस्य होने से ही उसका बचाव हो सकता।

यह पुस्तक उसी काम के लिए लिखी गई है। लेखक ने इसके लिए बडा उद्योग किया है। यह काम बडी जोखिम का है। सत्य की तो रक्षा करनी होगी लेकिन महापुरुष के जीवन को सजीव बनाये रखना होगा। मुझे महादेव के कुण्ठित नृत्य का चित्र याद पडता है। आनन्द तो उनमें अपार है किन्तु नृत्य करना है उनको ससीम जगत् में। इसी से दिङ्मण्डल की प्रत्येक सीमा में उनको रुक-रुक कर नृत्य करना पडता है। लेखक ने यह दुरूह कार्य बडी सावधानी से किया है। इस श्रेणी की पुस्तक बहुत बडी नहीं हो सकती। इसी से इस दीर्घ ग्रन्थ ने विपुल आकार नहीं धारण किया। इससे पुस्तक की अपूर्वता बढ गई है। अबौद्ध साधक के लिए ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी, इस पुस्तक में न तो

बुद्ध की ऐतिहासिक शुष्क मूर्त्ति है और न इसमें वे एकदम देवता का रूप धारण करके अतिप्राकृत हो गये हैं। इसमें तो उनका साधक-वेश है। जिस वेश में उन्होंने साधना की है उसी वेश में वे सभी देशों, सभी युगों और सभी सम्प्रदायों के साधकों के हृदय में असाधारण सेवा-रस और अपूर्व साधन-रस का सञ्चार करते हैं। यही कारण है कि इस पुस्तक में उनका रूप अतिप्राकृत नहीं हुआ।

लेखक को पुस्तक की पूँजी या तो बौद्धशास्त्रों से प्राप्त हुई है या भक्तों के वर्णन से। लेखक ने इस काम में कल्पना का सहारा नहीं लिया। शास्त्र में बुद्ध-वाणी और बुद्ध-कथा है तो अवश्य किन्तु ऐतिहासिक बुद्ध की भाँति शास्त्र की बुद्ध-वाणी भी रूखी-सूखी है। महापुरुषों के बहुत-से वाक्यों को शास्त्र ठीक-ठीक नहीं समझ सकते—वे तो उनके भक्तों की ही समझ में आते हैं। क्योंकि वे कुछ ज्ञान या दर्शन की व्याख्या करने नहीं आये थे कि शास्त्र या दर्शन में उनकी सब बातें मिल जायँ। उनकी साधना की गम्भीर वाणी तो अनेक बार शास्त्र में मिलती ही नहीं, और कभी-कभी वे स्वय उसको आद्योपान्त सोच-विचार कर नहीं देखते। साधना के द्वारा साधक ही उसका पूरा-पूरा तात्पर्य अवगत कर लेते हैं।

महासाधकों की वाणी ही मन्त्र है। मन्त्रमात्र बीजमन्त्र हैं। बीज में जो रूप छिपा हुआ है वह क्या अनाज की दूकान में लगी हुई अन्न की ढेरी में प्रकट होता है? भक्त के

सरस चित्त-उद्यान में उसकी अन्तरनिहित श्यामलता, अनेक पुष्पों के रङ्गों की विचित्रता और अनेक फलों में निहित मधुरता प्रकट होती है। उसका स्पन्दन, कम्पन, छाया, रूप-रस-गन्ध, देह-मन-प्राण को परितृप्त कर देता है।

जो लोग बुद्ध को साधक नहीं मानते उनसे हमें कुछ निवेदन नहीं करना है। बुद्ध यदि महासाधक न होते तो उनकी वाणी मन्त्र क्योंकर हो सकती थी? वे यदि साधक न होते तो संसार का बहुत बड़ा अंश उनकी वाणी का आश्रय पाकर कैसे सजीव रहता? शास्त्र देखने-सुनने से क्या उस वाणी की पूरी पूरी सार्थकता समझ में आ सकती है? इसी से लेखक ने, जितना बन पड़ा, शास्त्र से रत्नों का संग्रह किया है, किन्तु बीच-बीच में उस रत्नावली का तात्पर्य समझने के लिए उन्होंने बुद्ध के सभी साधकों के आगे हाथ फैलाये हैं। शास्त्र और भक्तों से वाणी तथा उपदेश की भिक्षा लाकर—ऐतिहासिक यथातथ्य पर नजर रखते हुए—साधक बुद्ध के चरणों में माथा झुकाकर उन्होंने हमको जो अमृत दिया है उसके लिए कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रहा जाता।*

---

*अध्यापक क्षितीश मोहन सेन, एम० ए०, की भूमिका का मर्म्म।

जीवनचरित

विषय पृष्ठ

जीवनचरित

बुद्धदेव

पहला अध्याय

शाक्यवंश और शाक्यदेश

कान्यकुब्ज देश से कुमायूँ तक पृथ्वी का हिस्सा किसी समय शाक्यवंशीय क्षत्रियों की निवासभूमि था, इस प्रदेश के उत्तर मे तरङ्गमाला की भाँति हिमालय पहाड़, पूरब में प्रताप-शाली मगध देश और लिच्छविवंश का राज्य, और पश्चिम ओर कोशल (अयोध्या) देश अवस्थित था। विष्णुपुराण में लिखा है कि, मगधराज नन्द ने, किसी समय अपने राज्य से क्षत्रियों को निकाल बाहर कर दिया था। उसके शासन-काल के बहुत पहले ही से क्षत्रियगण निर्बल और पराक्रमहीन हो चले थे। देश के इस दौर्भाग्य के समय, शाक्य लोगों ने देश-रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था।

शाक्य-देश की राजधानी रोहिणी नामक पहाड़ी नदी के किनारे कपिलवस्तु नाम से विख्यात थी। अब उस नगर



बुद्धदेव

अनेक समृद्धिशाली शहर बसाये गये थे। खेती और पशु-पालन ही जिस राज्य के अधिवासियों की प्रधान उपजीविका हो वहाँ पास ही पास बहुत शहरों का समावेश नहीं हो सकता। इसलिए ऐश्वर्यशाली शाक्य-राज्य का प्रसार बहुत दूर तक फैला हुआ था।

धर्मशील शुद्धोदन इस सुविस्तृत राज्य के राजा थे। साधारणत राजा कहने से हम लोग जैसा समझते हैं, वे वैसे प्रबल पराक्रमी शक्ति सम्पन्न राजा न थे। वे अपने जाति-भाइयों के बीच प्रधान अवश्य थे, इसी से उन सबों के नायक और नेता निर्वाचित हुए थे। राजपद उस समय वंशगत नहीं था। शाक्य लोग अपने निर्वाचित नायक को "राजा" कहा करते थे।

राजकीय सभी कामों के साथ देश के समस्त युवकों और बड़े बूढ़ों का सम्बन्ध था। राजकाज चलाने के लिए कपिल-वस्तु नगर में सन्थागार नाम का एक विचारालय था। वहाँ सबके सामने राजा अर्थात् निर्वाचित देशनायक साधारण प्रश्नों का विचार करते थे। एक मात्र राजधानी ही में नहीं, बल्कि प्रधान-प्रधान शहरों मे भी सन्थागार था। दिहात के रहनेवाले प्रजागण भी अपने छोटे-बड़े अभियोगों को उसी सभा में आकर पञ्चायत करते थे। आम, कटहल, सुपारी, नारियल के बाग में ग्रामवासियों की बैठक जमती थी। पचायत के लिए वे लोग खुली जगह को ज्यादा पसन्द करते थे।

का नामोनिशान तक नहीं। चीन देश के यात्री जब भारतवर्ष में आये थे, उसके पहले ही यह नगर नष्ट हो चुका था। विद्वद्वर कार्लाइल साहब ने सन् १८७५ ई० में कपिलवस्तु की स्थिति का निर्णय किया है। यह प्राचीन राजधानी जिस जगह विद्यमान थी वह स्थान इस समय भुइला गाँव के नाम से प्रसिद्ध है। गाँव के नजदीक एक सरोवर है। पास ही एक नदी बहती है। बुद्ध का जन्मस्थान कपिलवस्तु, वाराणसी (काशी) से कुछ अधिक सौ मील उत्तर और अयोध्या से २५ मील उत्तर-पूरब के कोन में अवस्थित है।

'बुद्धचरित' के रचयिता अश्वघोष का कथन है कि यह स्वभाव सुन्दर नगर किसी समय कपिल ऋषि की तपस्या करने का स्थान था, इस कारण इस स्थान का नाम कपिलवस्तु पड़ा। अश्वघोष के दूसरे काव्य सौन्दरानन्द में लिखा है कि सूर्यवंशीय एक व्यक्ति ने पिता के शाप से अभिभूत होकर कपिल मुनि के आश्रम में आश्रय ग्रहण किया था, कालक्रम से उसके वंशज यहां राज्य स्थापित करके प्रजा-पालन करने लगे। ये लोग शाकवन से घिरे हुए मुनि के आश्रम में रहते थे, इस कारण 'शाक्य' कहलाने लगे।

शाक्यवंशियों ने एक समय अपने बाहुबल और ऐश्वर्य से प्रधानता प्राप्त की थी, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं। इन लोगों ने जिस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया था उसमें कपिलवस्तु, शिलावती, सक्कर और देवदह आदि

अनेक समृद्धिशाली शहर बसाये गये थे। खेती और पशु-पालन ही जिस राज्य के अधिवासियों की प्रधान उपजीविका हो वहाँ पास ही पास बहुत शहरों का समावेश नहीं हो सकता। इसलिए ऐश्वर्यशाली शाक्य-राज्य का प्रसार बहुत दूर तक फैला हुआ था।

धर्मशील शुद्धोदन इस सुविस्तृत राज्य के राजा थे। साधारणत राजा कहने से हम लोग जैसा समझते हैं, वे वैसे प्रबल पराक्रमी शक्ति सम्पन्न राजा न थे। वे अपने जाति-भाइयों के बीच प्रधान अवश्य थे, इसी से उन सबों के नायक और नेता निर्वाचित हुए थे। राजपद उस समय वंशगत नहीं था। शाक्य लोग अपने निर्वाचित नायक को "राजा" कहा करते थे।

राजकीय सभी कामों के साथ देश के समस्त युवकों और बड़े बूढ़ों का सम्बन्ध था। राजकाज चलाने के लिए कपिलवस्तु नगर में सन्थागार नाम का एक विचारालय था। वहाँ सबके सामने राजा अर्थात् निर्वाचित देशनायक साधारण प्रश्नों का विचार करते थे। एक मात्र राजधानी ही में नहीं, बल्कि प्रधान-प्रधान शहरों में भी सन्थागार था। दिहात के रहनेवाले प्रजागण भी अपने छोटे-बड़े अभियोगों की उसी सभा में जाकर पञ्चायत करते थे। आम, कटहल, सुपारी, नारियल के बाग में ग्रामवासियों की बैठक जमती थी। पंचायत के लिए वे लोग खुली जगह को ज्यादा पसन्द करते थे।

शाक्य लोग यद्यपि थे तो क्षत्रिय, फिर भी उनकी उपजीविका खेती और पशुपालन ही से होती थी। हिमालय के समीप की समतल भूमि में धान के खेतो के आसपास शाक्यो की बस्ती थी। कुम्हार, सोनार, लोहार और बढ़ई आदि कारीगरों के रहने के लिए अलग-अलग गाँव थे। गाँवों के पास ही इधर-उधर घने जङ्गल थे। कोई-कोई कहते हैं, उन सब जङ्गलों में डाकू रहते थे, किन्तु उनके उपद्रव की कोई विशेष वार्ता विश्वास के योग्य नहीं पाई जाती। उस समय के वे सब छोटे-छोटे गाँव एक प्रकार से स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं।

गाँव के रहनेवाले बड़े चैन से अपने जीवन-काल को व्यतीत करते थे। कोई धनी और कोई दरिद्र, इस प्रकार की आर्थिक विषमता उन सबों में नहीं थी। सभी का समय आनन्द से कटता था। थोड़े ही परिश्रम से उन सबों के भोजन-वस्त्र का काम चल जाता था। चोर-डाकुओं का कोई उपद्रव न था। वे लोग अपने गाँव में पूरे तौर से स्वाधीनता का सुख भोगते थे। ग्रामवासियो में जैसे कोई प्रबल जमींदार न था वैसे ही कोई निरा भिखारी भी न था।

' ग्रामीण जनो को साधारणत सुख-सामग्री की कमी न थी। सभी शान्ति-पूर्वक सुख से समय बिताते थे। हाँ, जिस साल अनावृष्टि के कारण फसिल मारी जाती थी उस साल जरूर घर-घर हाहाकार मच जाता था। बौद्धधर्म्म के ग्रन्थों में इस प्रकार के दुर्भिक्ष का विवरण मिलता है।

किसान प्रजा के घर पास-पास थे। ऐसा नहीं कि एक घर यहाँ हो और एक घर वहाँ। घरो के दूर-दूर होने का उल्लेख नहीं मिलता। गाँववाले परस्पर सहानुभूति रखते थे। आमने-सामने दो घरों के बीच एक सँकरी गली का व्यवधान रहता था।

गृहस्थ थोड़ी-बहुत गाय-भैंसें जरूर पालते थे। इन सब पशुओं के लिए वे लोग कुछ परती जमीन रख छोड़ते थे। खेतों की फसिल कट जाने पर गृहस्थ लोग उन्हीं में पशुओं को चराते फिरते थे किन्तु जब खेतों में फसिल मौजूद रहती थी तब उन लोगो की तरफ से एक आदमी पशुओं की निगरानी के लिए चुन लिया जाता था। विशेष कर इस काम का भार उसी को सौंपा जाता था जो विश्वासपात्र होता और उस योग्य समझा जाता था। ऐसा लिखा है कि पशुरक्षक अपने प्रतिपालित पशुओं का आकार और उनके शरीर के विशेष-विशेष चिह्न बता सकता था। पशुओं के बदन से मच्छर और मक्खियों को उड़ा देने की हिकमत तथा उनके घाव आदि रोगो के छुड़ाने में वह विशेष अभिज्ञ होता था।

खेती का काम चलाने की भी अच्छी व्यवस्था थी। नहर के द्वारा खेत मे पानी पटाने का काम सभी ग्रामवासियों के जिम्मे था। ग्रामवासियों के नायक स्वयं इसकी देख-भाल करते थे। कोई आदमी अपने खेत को चारों ओर से घेर नहीं सकता था। हाँ, खेतो के चारों तरफ ऊँचा बाँध बाँधने

का विधान था। खेत के छोटे-छोटे टुकड़ों से सम्पूर्ण खेत का आकार ऐसा देख पड़ता था जैसे बहुधा बौद्ध सन्यासियों के वस्त्रखण्ड हों, उस समय भारतवासियों में अधिकांश लोग इसी तरह देहात में रहकर खेती के द्वारा अपना निर्वाह करते थे। शहर में इने-गिने लोग रहते थे।

दूसरा अध्याय

बुद्ध का बाल्यकाल और गार्हस्थ्य

जिनकी साधना ने पृथ्वी को नये आलोक से आलोकित किया है, और जिन्होंने एक समय भारतवर्ष के धर्म, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, शिल्पकला और लोकसुधार आदि सब विभागों को सजीव कर दिया था, उन्हीं महापुरुष बुद्धदेव का जीवन-चरित हम संक्षेप में वर्णन करेंगे।

हमारे वर्णनीय बुद्धदेव ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इसलिए हम उनके अलौकिक गुणों और अतिशयोक्तियों को छोड़कर उनके चरित्र मात्र का उल्लेख करेंगे।

बुद्धदेव के पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम महामाया था। अनुमानतः विक्रमाब्द के ५६७ वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी नामक प्रमोदवाटिका में वैशाख की पूर्णमासी को उनका जन्म हुआ। कहते हैं, उपवाटिका में घूमते-फिरते उनकी माता महामाया ने जब शाल-वृक्ष का एक नवपल्लव तोड़ने के लिए ऊपर को हाथ उठाया था तभी उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। कुमार के जन्म से राज्य

में सभी का अर्थ सिद्ध हुआ था, इसलिए शुद्धोदन ने उनका नाम "सर्वार्थसिद्ध (या सिद्धार्थ)" रक्खा था। बुद्ध के जन्म से सातवें दिन उनकी माता महामाया देवी का देहान्त हो गया।

नगर-निवासियों का कल्याण करनेवाली तथा राजा शुद्धोदन की प्राण प्रियतमा महामाया की असमय-मृत्यु से सभी शोकाकुल हुए। शुद्धोदन ने बालक का मुँह देखकर किसी तरह पत्नी-वियोग का शोक सवरण कर धैर्य धारण किया। बालक सिद्धार्थ सौतेली माँ और मौसी गौतमी की गोद में पलकर क्रम-क्रम से बढ़ने लगे।

अनेक प्रकार के भोग और सुख-सम्पत्ति के बीच प्रतिपालित होकर भी सिद्धार्थ बचपन से ही गम्भीर और सयत थे। लड़कपन की स्वाभाविक चञ्चलता उनमें न थी। उनका स्वभाव बड़ा ही शान्त और सहनशील था। अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके वे एक अच्छे पण्डित हुए। क्षत्रियों के उपयुक्त रण-कौशल में भी उन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। शाक्यजाति में कोई ऐसा न था जो घोड़े की सवारी और रथ हाँकने में उनकी बराबरी कर सकता। उत्तरकाल में जिस करुणा के द्वारा उन्होंने सब मनुष्यों और जीव-जन्तुओं को अपने वश में कर लिया था उसका आभास वे बाल्यकाल और किशोर अवस्था से ही दिखलाने लगे। शिकारियों के साथ मिलकर वे शिकार खेलने जाते थे सही, परन्तु कभी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते थे।

जीवों पर सिद्धार्थ के प्रेम रखने का अच्छा परिचय उस समय की एक प्रसिद्ध कहानी देती है। कहते हैं कि एक दिन सवेरे वे राजभवन की फुलवाड़ी में टहल रहे थे, उसी समय हंसों का एक झुण्ड मधुर शब्द से आकाश-मण्डल को मुखरित करता हुआ उनके माथे के ऊपर से होकर उड़ा जा रहा था। सहसा तीर लगने से आहत होकर एक हंस उनके सामने धरती पर गिर पड़ा। सिद्धार्थ ने तुरन्त उस घायल हंस को बड़ी मुलायमियत से गोद में लेकर उसके बदन से तीर निकाल लिया और बड़े प्यार से उसकी सेवा करने लगे। तीर लगने से पक्षी को कैसा कष्ट हुआ होगा, इसके परीक्षार्थ उन्होंने तीर का अग्र भाग अपने हाथ में चुभाया। इसके बाद वे सजल नेत्र से फिर उस हंस की सेवा में लग गये। उनकी दया-भरी सेवा से वह पक्षी बच गया।

इतने में सिद्धार्थ का सजातीय बन्धु देवदत्त उस उद्यान में आया। उसके अव्यर्थ सन्धान से ही हंस तीर-विद्ध होकर धरती पर गिरा था, इसलिए उसने पक्षी लेना चाहा। सिद्धार्थ ने विनीत-भाव से कहा—"मैं यह पक्षी किसी तरह तुमको नहीं दे सकता। अगर यह मर जाता तो बेशक तुम इसे पाते। मेरी सेवा से यह पक्षी जी उठा है, इसलिए अब इस पर मेरा ही अधिकार है।" इस पक्षी के लिए उन दोनों में खूब वादविवाद हुआ। आखिर प्रवीण व्यक्तियों की सभा में इसका विचार हुआ। उन्होंने कहा—"जो प्राण-

रक्षा करता है, जीवित प्राणी पर उसी का अधिकार होता है। इसलिए सिद्धार्थ ही पची पाने का हकदार है।" सिद्धार्थ की करुण-रागिणी से जो एक दिन समस्त मनुष्यों के हृदय का तार बज उठेगा उसका कुछ-कुछ आभास इस घटना से—किशोर अवस्था में ही—लोगों को मिलने लगा।

कपिलवस्तु में प्रतिवर्ष हल जोतने का उत्सव होता था। उस दिन राजा, मन्त्री, मुसाहब और पुरवासी सब मिलकर बड़े समारोह से हल जोतते थे। एक बार सिद्धार्थ किशोर अवस्था में यह उत्सव देखने गये। हल सञ्चालन के उत्सव में धूम मचाते हुए पुरवासियों के बीच वे एक जामुन के पेड़ के नीचे बैठकर उन सभों का हलकर्षणोत्सव देखने लगे। उनकी आँखों के सामने निष्ठुरता, निर्दयता और हिंसा का घृणित भाव प्रकाशित हो पड़ा। उन्होंने देखा, उदराग्न समह के लिए किसान लोग कड़ी धूप में पसीने से तर-बतर होकर खेत में कठोर परिश्रम कर रहे हैं। थके हुए बैलों की पीठ पर बारम्बार बड़ी बेदर्दी के साथ क्या ही डण्डे का प्रहार हो रहा है! इन सबों के पैरों के नीचे दबकर कितने ही छोटे-छोटे असख्य जीव मर रहे हैं। इन मरे हुए प्राणियों के निर्जीव शरीर के लिए मांसभक्षी पशुओं के बीच भयङ्कर कोलाहल मच रहा है।

यह भीषण दृश्य देखकर सिद्धार्थ की करुणा-भरी आँखें धीरे-धीरे मुँद गईं। वे इस हृदय-विदारक दृश्य को न देख

सके। असख्य नर-नारियों और जीव-जन्तुओं के दु ख न उनके कोमल हृदय को व्यथित कर दिया। वे जन्म-मृत्यु के दुर्ज्ञेय रहस्य को सोचने लगे। जामुन-वृक्ष के नीचे वे सांसारिक जीवों के सुख-दु ख की बात लेकर चित्र की भाँति निश्चेष्ट हो रहे।

उत्सव समाप्त होन पर घर लौटते समय कुमार की खोज हुई। कुछ देर इधर-उधर खोज-होने के अनन्तर पुरवासिया ने देखा, वे स्थिरभाव से आँखें मूँदे जामुन के पेड के नीच ध्यान लगाये बैठे हैं। सम्पूर्ण ससार को प्लावित करनवाली अपार दया से अलकृत कुमार के मुँह की अपूर्व शोभा देखकर शुद्धादन के आश्चर्य की सीमा न रही। बहुत देर के बाद ध्यान टूटने पर उन्होंने पिता को प्रणाम करके करुणा-भरे स्वर मे कहा—कृषि-कार्य में असख्य जीवों का प्राणनाश होता है, आप खेती करना छोड दें।

बेटे की गम्भीरता और वैराग्य ने दुनियादार पिता को चिन्तित कर दिया। सिद्धार्थ के मन को सासारिक सुख-भोगों की ओर आकृष्ट करने के लिए पिता ने उनको विवाह-पाश में बाँधना चाहा। कुछ ही दिन के भीतर दण्डपाणि की बेटी गोपा के साथ कुमार का विवाह हुआ। उनके उदासीन चित्त को सुख-भोग की ओर झुका ले जाने की इच्छा से शुद्धोदन ने प्रतिदिन नाच-गान, खेल-तमाशे आदि अनेक मनोरञ्जक कार्यों की व्यवस्था कर दी।

गुणवती सुन्दरी गोपा को जीवन-सङ्गिनीरूप में पाकर सिद्धार्थ ने अपने भाग्य को सराहा। हितैषिणी पतिव्रता पत्नी के समागम से उनका जीवन सुखमय हुआ। गृहस्थजनोचित सुखभोग से उनके गार्हस्थ्य जीवन का कुछ काल कट गया।



तीसरा अध्याय

वैराग्य-उदय

समग्र-मनुष्य-जाति को दुःख से छुड़ाने का महत् कल्याणकारी व्रत जिन्हें ग्रहण करना है उन्हें संसार का क्षणिक सुख भोग क्योंकर रोक सकता है? अन्तःपुर के राजकीय विविध भोग-विलास में रहकर भी सिद्धार्थ के मन में कभी कभी करुण-भाव का उदय हो आता था। बुढ़ापा, व्याधि और मृत्यु ने सब प्राणियों के जीवन को निरन्तर दुःखमय कर रक्खा है, इनके आक्रमण से जीव कैसे बच सकते हैं,—यह चिन्ता विद्युत् की भाँति कभी-कभी उनके हृदय में चमक उठती थी। जीवन का उच्च लक्ष्य सूक्ष्मरूप से उनके निकट भासमान होता था। मन की ऐसी चिन्तित अवस्था में सिद्धार्थ को वह भोग-विलास शान्ति नहीं दे सकता था। गहरे दुःख से उनका हृदय भर आता था।

एक समय वसन्तऋतु में सिद्धार्थ को शहर घूमने की इच्छा हुई। उन्होंने पिता के निकट अपना अभिप्राय प्रकट किया। राजा की आज्ञा से सारा शहर तोरण वन्दनवार-पताका आदि

माङ्गलिक वस्तुओं से सजाया गया। सारथी छन्दक को लेकर, रथ पर सवार हो, सिद्धार्थ घूमने निकले। उन्होंने पहले दिन रास्ते में ऐसे जराजीर्ण वृद्ध को देखा जिसके बाल पके थे, चमड़ा सिकुड़ा था, और पैर थरथराते थे, दूसरे दिन दुबले पतले, कान्तिहीन शय्यागत रोगी को और तीसरे दिन एक मुर्दे को देखा।

बुद्धचरित के संग्रहकर्त्ताओं ने इन तीनों दिनों के वृत्तान्त का वर्णन विशेषरूप से किया है। उसके पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है कि जरा, व्याधि और मृत्यु के अपरिहार्य्य दुःख ने उस समय सिद्धार्थ को व्याकुल कर दिया था। किन्तु वे सब अतिरञ्जित आख्यान सर्वांशत सत्य नहीं माने जा सकते। सिद्धार्थ ने उनतीस वर्ष की उम्र में घर छोड़ा। इतने समय तक वे जरा, व्याधि और मृत्यु के सम्बन्ध में लड़के की भाँति अज्ञ थे, यह बात विश्वसनीय नहीं है। शान्तशील, मेधावी और स्वाभाविक विरक्त सिद्धार्थ को उनके पिता ने सुख-भोग में आसक्त करने के लिए इतने दिनों तक नृत्यगीत आदि के मोहजाल में उलझा रक्खा था, यह बात भी विश्वासयोग्य नहीं। हाँ, यह माना जा सकता है कि उस समय की इन तीन घटनाओं ने उनके चित्त को डावाँडोल कर दिया था। जीव-धारियों के अपरिहार्य अनन्त दुःख कुमार की आँखों के सामने नाचने लगे। इतने दिन जो बात कभी-कभी उनके मन में उदित होती थी, उसने इस समय चिरकाल के लिए स्थिरभाव से उनके हृदय पर अधिकार कर लिया। गार्हस्थ्य सुख-भोग से

उनका मन सदा के लिए फिर गया। वे अपने सुख को त्याग कर जीवगण के दुःख दूर करने का उपाय ढूँढने लगे। इस मङ्गलव्रत के साधनार्थ उन्हें क्या करना होगा, किस मार्ग का अवलम्बन करना होगा, इस चिन्ता ने उनके चित्त को आ घेरा। जब उनके मन की ऐसी अनिश्चित अवस्था थी तब चौथे दिन शहर घूमते समय एक प्रशान्त-मूर्त्ति गेरुआवस्त्रधारी सन्यासी पर उनकी दृष्टि जा पड़ी। सन्यासी महात्मा के शान्त स्वरूप और निर्विकार भाव ने सिद्धार्थ को मुग्ध कर दिया। उन्होंने निश्चय किया, मुक्तिमार्ग का आविष्कार करने के लिए सांसारिक भोग विलास को छोड़ करके सन्यासव्रत ग्रहण करना होगा। उन्हें यह बात सूझ गई कि महा त्याग के अतिरिक्त परमकल्याण प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं।

सिद्धार्थ के मन में विषयोपभोग और विराग के बीच घोर संग्राम चलने लगा। एक ओर थी त्याग की इच्छा और दूसरी ओर स्नेहमय पिता, पुत्रवत्सला विमाता तथा पतिप्राणा गोपा देवी का ममत्वबन्धन था। इस चिन्ता के कारण न उन्हें भोजन रुचता था, न उनकी आँखों में नींद आती थी और न उन्हें नाच गान अच्छा लगता था।

सिद्धार्थ के मन में जब इस प्रकार चिन्ता की चोटें चल रही थीं तब एक दिन उन्होंने सुना कि गोपा के पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस शुभ संवाद के सुनने से उन्हें हर्ष तो कुछ हुआ नहीं,—हाँ, गृहत्याग की वासना मन में प्रबल हो उठी।

चौथा अध्याय

गृहत्याग और देशभ्रमण

गृहत्याग का दृढ सकल्प मन मे ठान सिद्धार्थ ने पुत्रजन्मोत्सव की भीड से भरे हुए राजभवन में प्रवेश किया। "स्नेह-कोमल-हृदय पिता को बिना जताये गृहत्याग करने से उनका हृदय शोक से फट जायगा" यह सोचकर सिद्धार्थ ने पिता के समीप जा हाथ जोडकर निवेदन किया—बुढ़ापा, व्याधि और मृत्यु के आक्रमण से प्राणियो का जीवन दु:खमय हो रहा है, मैं इस महादु:ख से छुटकारा पाने का उपाय निर्धारण करने के लिए सन्यासव्रत ग्रहण करूँगा। इसका मैंने दृढ निश्चय कर लिया है। आप कृपा करके मुझे आज्ञा दीजिए।

यह बात सुनकर शुद्धोदन के सिर पर मानो वज्रपात हुआ। उन्होंने बेटे को वह सकल्प त्यागकर ससारधर्म पालन करने को कहा।

सिद्धार्थ ने कहा—यदि आप मुझको चार वरदान दे सकें तो मैं घर पर रह सकता हूँ।—(१) मेरी जवानी को बुढापा चौपट न करे, (२) रोग मेरे स्वास्थ्य को नष्ट

न कर, (३) मृत्यु मेरा प्राण हरण न कर और (४) विपत्ति मेरी सम्पत्ति का अपहरण न करे।

बेटे की बात से अचम्भे में आकर शुद्धोदन ने कहा—बेटा, तुम्हारे प्रार्थित विषय को पूर्ण करना मनुष्य की साध्य के भीतर नहीं। असम्भव के पीछे पडकर जीवन का सुख-सम्भोग मत छोडो। सन्यासग्रहण की इच्छा त्याग करके घर ही पर रहो।

सिद्धार्थ के मन में जिस महाभाव का उदय हुआ है, सफलता की जिन भावी आशा ने उनके हृदय को बलिष्ठ किया है उसे घर-गिरिस्ती में उलझ रहे शुद्धोदन क्योंकर जान सकेंगे? सिद्धार्थ ने अविचल भाव से विनयपूर्वक कहा—पिताजी, मृत्यु किसी न किसी दिन आकर हम लोगों का विच्छेद करावेगा ही, इसलिए मेरी साधना के मार्ग में आप बाधा मत डालिए। जिस घर में आग लगने को हो उस घर से अलग हो जाना ही भला। ससारत्याग करने के सिवा मुझे सच्चा सुख मिलने का और कोई उपाय नहीं है।

पिता के चरणों मे प्रणाम करके सिद्धार्थ चले आये। शुद्धोदन ने हताशहृदय से पुत्र को घर छोड अन्यत्र न जाने देने के इरादे से पहरेदार नियुक्त कर दिये।

जीवों पर अपार दया के कारण सिद्धार्थ का हृदय रह-रह कर व्यथित हो उठता था। उस महादुःख से दुखी हृदय को लेकर वे महल के भीतर गये। मन को मोहनेवाली सुन्दर रूप-

लावण्य से चित्त को चुरानेवाली नर्तकियों का नाचना-गाना उन्हें अच्छा न लगा। वे उदास मुँह किये चुपचाप एक ओर बैठ गये। पति-भक्तिपरायणा गोपा ने स्वामी का ऐसा भाव देखकर बड़ी उत्कण्ठा से कोमल स्वर में पूछा—नाथ, आज आपको इतना उदास क्यों देखती हूँ? क्या हुआ है, कहिए।

सिद्धार्थ ने कहा—प्यारी, तुम्हें देखकर जो आज मुझे आनन्द होता है वही मेरे दुःख का कारण है, वही मुझे पीड़ित कर रहा है। मैं भली भाँति समझ गया हूँ कि यह आनन्द क्षणिक है। बुढ़ापा, व्याधि और मृत्यु ये हम लोगों के सुख-भोग के मार्ग में चिरबाधक हो रहे हैं।

पति का उदास मुँह देखकर माध्वी गोपा बहुत चिन्तित हुई। सिद्धार्थ के मन में उस समय और कोई चिन्ता न थी। दिन-रात वे यही सोचते थे कि जीवगण बुढ़ापा, व्याधि और मृत्यु के दुःख से कैसे बचेंगे,—इन महादुःखों से उनका कैसे उद्धार होगा। इस विषय का नशा उनके चित्त पर इस प्रकार चढ़ गया कि उन्हें सर्वस्व त्यागकर दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग ढूँढ़ निकालने के सिवा सुख नहीं, शान्ति नहीं, विश्राम नहीं। संसार बन्धन को तोड़कर वे घर छोड़ने का मौका ढूँढ़ने लगे।

गहरी रात है। सब लोग निद्रादेवी की गोद में अचेत पड़े हैं। सिद्धार्थ अपनी सोई हुई सहधर्म्मिणी गोपा के पास बैठे ध्यान में निमग्न हैं। इसी समय उनके शान्त हृदय में यह 'वाणी' सुन पड़ी—यही तो समय है।

सोई हुई पत्नी और सुख से सोये हुए नवजात पुत्र के मुँह की ओर एक बार स्नेह और करुणा से भरी दृष्टि से देखकर सिद्धार्थ बडी धीरता के साथ वहाँ से उठकर बाहर आये। उस नि शब्द रात मे मानो चन्द्र, तारागण, और वृहत आकाश सभी एक-मत हो उन्हें सीमाहीन सुख के खुले मार्ग में निकल चलने के लिए इशारा करने लगे।

सिद्धार्थ ने अपने सारथी छन्दक को जगाकर कहा—शीघ्र घोडा तैयार कर ले आओ। ससार त्यागकर मुझको सन्यास-व्रत ग्रहण करना ही होगा। तुम अब पल भर का भी विलम्ब न करो।

सिद्धार्थ का मत फेरने के लिए बुद्धिमान् सारथी ने कितनी ही युक्तियाँ लडाई, कितने ही तर्क किये, परन्तु सिद्धार्थ के दृढ सकल्प के आगे उसकी एक भी युक्ति या तर्क न चला। वे उस गहरी रात में घोडे पर सवार हो एकमात्र सारथी को साथ ले, राजभवन को छोड, नि शङ्क भाव से एक अपरिचित मार्ग पर चल खडे हुए।

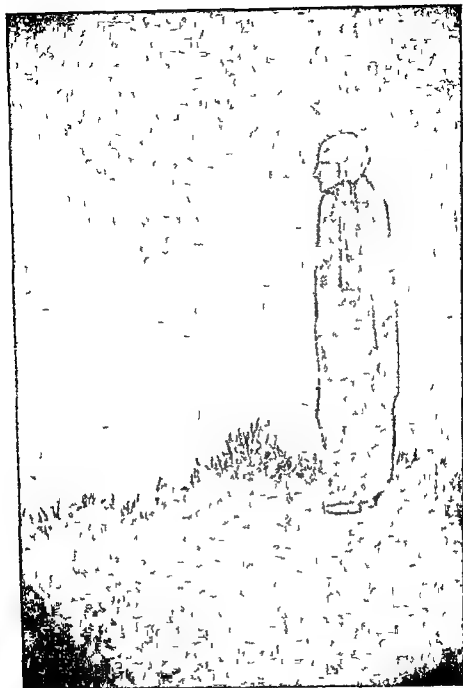
उस समय सिद्धार्थ के मन मे तरह-तरह की भावनाएँ उठ रही थीं। बौद्ध ग्रन्थों मे उनका रूपक बाँधकर विशेष रूप से वर्णन किया गया है। लिखा है, गृहत्याग के दिन—*रात को—कामलोक के स्वामी "मार" ने सूने रास्ते में* खडे हो सिद्धार्थ को राजकीय सुख-सम्भोग का प्रलोभन दिखाकर उन्हें घेर रखने की चेष्टा की। बाहर से अनन्त जीवो की

अव्यक्त पुकार सुनकर सिद्धार्थ जब सर्वत्यागी हो रास्ते पर खड़े थे तब स्त्री-पुत्र-मा-बाप के स्नेहपाश तथा जन्म से आसेवित राजभवन की सुखस्मृति उन्हें पीछे से खींच रही थी। यह मन का संकल्प-विकल्प कितना ही कठोर क्यों न हो, सिद्धार्थ किसी तरह विचलित न होकर सारी रात बड़ी तेजी के साथ चलते ही रहे। कई कोस रास्ता तय करने पर उन्हें अनोमा नदी के किनारे पूरब ओर प्रभातसूचक अरुणिमा देख पड़ी।

नदी पार होकर सिद्धार्थ घोड़े से उतर पड़े। नदी की रेत पर खड़े होकर उन्होंने अपने बदन से पोशाक उतार कर सारथी को दे दी और कहा—तुम मेरे भूषण, पोशाक और घोड़े को लेकर घर लौट जाओ।

छन्दक ने कहा—प्रभु, मुझे भी संन्यास-व्रत-ग्रहण की आज्ञा देकर अपनी सेवा में रख लीजिए।

सिद्धार्थ ने कहा—"नहीं छन्दक, तुमको शीघ्र कपिलवस्तु लौट जाकर माता-पिता और बन्धुवर्ग को मेरी खबर देनी होगी।" इसके बाद सिद्धार्थ ने तलवार से अपने सुन्दर केश काट डाले। एक व्याध के फटे-पुराने कपड़े से अपना कपड़ा बदलकर उन्होंने भिक्षुक का रूप धारण किया। कुमार का यह फकीरी भेस देखकर छन्दक रोने लगा। सिद्धार्थ ने उसे बहुत तरह से समझा-बुझाकर कपिलवस्तु को लौटा दिया।



बुद्ध (भिखारी)

टूटे दिलवाले शुद्धोदन का सांसारिक सुख की आशा चिर-काल के लिए विलीन हो गई। पतिव्रता गोपा सब प्रकार के भोग-विलास तजकर नवानी हो में योगिनी बन गई।

इधर सिद्धार्थ अकेले बिना संगी-साथी के अज्ञात मार्ग से अग्रसर हो चले। वे कहाँ हैं, कहाँ जायँगे, इसकी उन्हें कुछ खबर नहीं। उनके मन में यही दृढ़ विश्वास था कि वे अनन्त जीवों के लिए एक न एक मुक्ति-मार्ग का आविष्कार करेंगे।

अनोमा नदी के तीर से सिद्धार्थ दक्षिण-पूर्व की ओर जाने लगे। मार्ग में उन्होंने क्रमशः तीन तपस्वियों के आश्रम में आतिथ्य ग्रहण किया। किस मार्ग का अवलम्बन करके साधना में प्रवृत्त होने से वे अभिलषित कल्याण प्राप्त कर सकेंगे, यह उन्हें मालूम न था। इसलिए वे देशप्रचलित साधना के विभिन्न मार्गों की आलोचना में तत्पर हुए।

एक आश्रम में उन्होंने देखा कि वहाँ के साधुओं में कोई पक्षी की भाँति खेत से अन्न चुनकर खाता है, कोई पशु की भाँति घास-पात खाकर प्राणरक्षा करता है और कोई सर्प की तरह केवल वायु भक्षण करके दिन बिता रहा है। पूछने पर सिद्धार्थ को मालूम हुआ कि इन साधुओं को विश्वास है कि "इस लोक में इस प्रकार कठिन साधना करने से जन्मान्तर में उन्हें स्वर्गलोक प्राप्त होगा। स्वर्ग में दुःख का लेश तक नहीं है। वहाँ सुख ही सुख है। इस लोक में जो

जितना दुःख सहकर तपस्या करेगा, उसे स्वर्ग में उतना ही अधिक सुख मिलेगा।"

साधुओ के मुँह मे ऐसा उत्तर पाकर सिद्धार्थ के मन मे स्वर्ग-सम्बन्धी जो प्रश्न उठे और उन्होने साधुओ के साथ जो आलोचना की उसका सक्षिप्त विवरण यो है—

साधु लोग जिस स्वर्ग को मानते हैं वहाँ मनुष्य, निर्दिष्ट समय तक, धर्म का फल भोगता है। धर्म क्षीण हो जाने पर स्वर्गवास की अवधि पूरी हो जाती है और फिर उसे मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करना होता है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि स्वर्ग प्राप्ति से नित्यानन्द की प्राप्ति होती है।

हम लोग इस ससार में जो सुख थोडे परिमाण में थोडे समय तक भोगते हैं वही सुख, स्वर्ग मे अधिक मात्रा में अधिक दिनो तक, भोगा जा सकता है। शास्त्रोल्लिखित स्वर्ग मे दैहिक सुख-सम्भोग की सामग्री की कमी नहीं। देवताओ के आनन्दभवन मे उर्वशी, मेनका, रम्भा और तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ नृत्यगीत के द्वारा सभी का मनोरञ्जन करती हैं। स्वर्गवासियो में कोई भी कामनारहित नहीं। ससारी मनुष्यों की भाँति उनके भी काम, क्रोध, हिंसा और द्वेष हैं।

स्वर्गगत मनुष्य और देवताओं को देह है, अतएव देह-सम्बन्धी सब प्रकार की कामनाएँ उन्हे रहेंगी ही। इसलिए स्वर्गवासी भी ससारी लोगो की तरह सुख-दुःख का उपभोग करते हैं। मर्त्यलोकवासी अल्पजीवी होते हैं इसलिए थोडे

ही काल तक उन्हें अनित्य सुख-दु ख भोगने का अवसर मिलता है। किन्तु स्वर्गवासियों को यह सुख-दु ख मुद्दतों तक भोगना पड़ता है। स्वर्ग में नित्य-सुख, नित्य-शान्ति किसी को नहीं मिलती।

कामना की तीव्र ज्वाला को जो साधना नहीं बुझाती, जो साधक को सुख-दु ख से रहित नित्य शान्तिपद तक नहीं पहुँचा सकती, वैसी साधना करने से क्या लाभ हो सकता है?

जीवों के अनन्त दु ख ने सिद्धार्थ को गृहत्यागी किया है—इस दु ख का मूल कामना ही है। जिस स्वर्ग मे भोग-विलास की वासना है, काम्य वस्तु और इन्द्रिय-सुख की अधिकता है, उस स्वर्ग के पाने की इच्छा वे क्यों करेंगे? उन्होंने मन ही मन स्थिर किया, शास्त्र-कथित स्वर्ग मनुष्य के मन की कल्पना मात्र है। वे जिस नित्य-सुख की खोज करने चले हैं वह कल्पित स्वर्गलोक नहीं है।

अब सिद्धार्थ मगध की राजधानी राजगृह की ओर चले। उस समय वहाँ प्रतापशाली राजा बिम्बिसार राज्य करते थे। विन्ध्यगिरि की छोटी-छोटी पाँच शाखाओं न इस नगर को किले की तरह चारों ओर से घेरकर एक अपूर्व स्वाभाविक शोभा दे रक्खी थी। यहाँ की पर्वत-श्रेणी में अनेक गुफाएँ थीं। राजधानी के समीप की सब गुप्त और रमणीय गुफाएँ असख्य साधकों की साधन-भूमि हो रही थीं। महामति सिद्धार्थ ने वहाँ की एक गुफा में आश्रय लिया।

समस्त मानवजाति की कल्याण-कामना के प्रत्युच्च भाव ने सिद्धार्थ के चित्त पर अधिकार कर लिया था। किस उपाय से मनुष्यों का दुःख दूर करेंगे, किस उपाय से मुक्तिमार्ग का आविष्कार करेंगे ?—इन्हीं बातों को वे एकान्त में रहकर सोचने लगे। सिद्धार्थ यहाँ एकाकी और असहाय थे। भिक्षा माँग करके उन्हें अन्न लाना पड़ता था, अपने हाथ से रसोई करनी पड़ती थी। उन्होंने मन को दृढ़ करके जन्म के साथी भोग-विलास को एकदम त्याग दिया।

क्षुधा-निवारणार्थ भिक्षा माँगने के लिए उन्हें नगर में घूमना पड़ता था। उनकी रमणीय शान्त मूर्ति देखकर नगरनिवासी चकित होजाते थे। उनके मुँह की शोभा देखकर सभी भक्ति से विह्वल हो उठते थे। नौकरों के मुँह से इस अपूर्व तरुण-साधु का सुयश सुनकर मगधराज बिम्बिसार ने सिद्धार्थ से भेंट की। उनका परिचय पाकर राजा आश्चर्यान्वित हुए। राजा ने उनसे कठोर सन्यास-व्रत त्यागकर संसारधर्म ग्रहण करने के लिए बड़ा हठ और अनुरोध किया। कहना व्यर्थ है, सिद्धार्थ का मन किसी तरह भोग-विलास की ओर नहीं झुका।

सिद्धार्थ ने लोगों के मुँह से सुना कि वैशाली में आलाडकालाम नामक एक शास्त्रज्ञ ऋषि हिरण्यवती नदी के किनारे रहते हैं। इन के तीन सौ शिष्य हैं। तब सिद्धार्थ ने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। यहाँ रहकर उन्होंने कुछ दिन तक शास्त्राध्ययन किया। अत्यन्त उग्र प्रतिभा के

यत्न से उन्होंने थोड़े ही दिनों में गुरु की जानी हुई सब विद्या सीख ली। किन्तु जिस मुक्ति की खोज में वे युवावस्था में घर छोड़ सन्यासी हो चले हैं, उसका कुछ पता नहीं पाया।

इसके अनन्तर एक पहाड़ की गुफा में रामपुत्र रुद्रक से उनकी भेंट हुई। ये विद्वद्वर महात्मा सात सौ शिष्यों को शास्त्र की शिक्षा देते थे। सिद्धार्थ ने शिष्यत्व स्वीकार करके इनसे कुछ काल तक विद्या पढ़ी। थोड़े ही दिनों में वे गुरु के समान सब शास्त्रों में निष्णात हो गये। रुद्रक ने इस प्रतिभाशाली शिष्य से अनुरोध किया कि इसी आश्रम में रहकर छात्रों को पढ़ाया करो। किन्तु सिद्धार्थ का मन उस अनुरोध की रक्षा करने को सम्मत न हुआ। वे इस बात को अच्छी तरह समझ गये कि उनके गुरु ने उनको कुछ शास्त्र की शिक्षा दी है सही, किन्तु जिस मुक्ति-मार्ग को खोज निकालने के लिए उन्होंने आत्मोत्सर्ग किया है, वह गुरु से प्राप्त होने का नहीं। अगत्या उन्होंने उस आश्रम का त्याग किया। आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति के निमित्त सिद्धार्थ की ऐकान्तिक निष्ठा देखकर रुद्रक के पाँच विद्यार्थी उनके अनुगामी हुए। इनके नाम थे—कौण्डिन्य, अश्वजित्, भद्रक, वप्र और महानाम।

दैहिक सुखभोग की लालसा साधन-मार्ग में विघ्न डालती है। इसलिए कठिन साधना के द्वारा देह को सहिष्णु बनाने के लिए अस्वाभाविक उपाय अवलम्बन करने की रीति किसी समय भारतवर्ष में बहुत प्रबल हो गई थी। सिद्धार्थ ने मन ही मन

सङ्कल्प किया कि कठोर तपस्या के द्वारा वे इन्द्रियों का दमन करके अपने मन को वासनामुक्त करेंगे। ऐसा करने ही से वे दुःख के हाथ से बचकर परम शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। उन्होंने समझ लिया कि, केवल शास्त्र पढ़ने या सुनने से सत्य-लोक की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए वे तुरन्त अनुकूल स्थान की खोज में चले। घूमते-घूमते वे गयाशीर्ष पर्वत के समीप पहुँचे। इसके पास ही नैरञ्जना नदी महानदी फल्गु से मिली है। वे यहाँ से कुछ आगे बढ़ कर उरबिल्व गाँव में गये। वहाँ की स्वाभाविक शोभा ने उनके चित्त को आकर्षित किया। स्वच्छ जल वाली नैरञ्जना नदी के पवित्र तट पर सिद्धार्थ ने छः वर्ष तक कठिन तपस्या की।

पाँचवाँ अध्याय

साधना और बोधि-प्राप्ति

महापुरुषों में यही विशेषता होती है कि वे मनुष्यत्व को परिष्कृत कर उसमें नई शोभा का समावेश करते हैं। मिसरी जैसे पानी में घुलकर उसे मीठा बनाती है, वैसे ही महापुरुष भी मनुष्यजाति के साधन-समुद्र में अपने जीवन की साधना-रूप धारा मिलाकर उसे नई प्रतिष्ठा देते हैं। एकनिष्ठ साधना के द्वारा मनुष्य अपनी चेष्टा से ही चरम साफल्य प्राप्त कर सकता है, मनुष्य आप ही अपने भाग्य का साधक है और आप ही अपने को दुःख-जाल से छुड़ा सकता है। मुक्ति पाने के लिए उसे दूसरे किसी अवलम्ब की आवश्यकता नहीं—महापुरुष सिद्धार्थ की साधना ने मनुष्यत्व को इसी गौरव-मुकुट से विभूषित किया है।

सिद्धार्थ ने जिस साधना में विजयी होकर मानवजाति के गौरव को बढ़ाया है, उस साधन-प्रणाली की व्यवस्था करने में उन्हें अनेक विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ा। वे शास्त्र का आश्रय त्यागकर, गुरुदेव का भरोसा छोड़कर,

आप ही अपने आश्रय हुए। विषम वासना के वाण को मन से निकाल फेकने के लिए वे आलस्यरहित हो कठिन साधना में प्रवृत्त हुए। उनका शान्त स्वभाव, सरल चेष्टा और चित्त की दृढता देखकर पाँचो शिष्य विस्मित हुए। दृढ योगी के नाम से सिद्धार्थ की ख्याति देश देशान्तर में फैल गई। वे पाञ्चभौतिक शरीर की ओर कुछ भी ध्यान न देकर योगासन लगा कर सब जीवो के दुःख दूर करने के लिए मनन और ध्यान करने लगे। जन्म-मृत्युरूपी अगाध समुद्र को पार करके निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए वे कठोर योग साधन के द्वारा देह और मन को अपने वश मे लाने की चेष्टा करने लगे। आहार की मात्रा घटाते-घटाते केवल चावल के एक कण पर निर्भर हो रहे। एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, एक महीना नहीं, दो महीना नहीं, लगातार छ वर्ष तक इसी प्रकार कठोर साधना चलती रही। कितनी ही कडी धूप, कितनी ही वर्षा, कितने ही शीत और कितनी ही प्रबल आँधियाँ उनके सिर पर से होकर चली गई थी, किन्तु सिद्धार्थ को इसकी खबर तक नहीं। किसी प्रकार का दुःख उनके मन को विचलित नहीं कर सका। उनके शरीर की वह मनोहर कान्ति लुप्त हो गई। उनका वह बलिष्ठ शरीर निरा कङ्काल रह गया।

किन्तु इतना क्लेश और इतनी यातना सहने पर भी सिद्धार्थ अपनी चिरवाञ्छित बोधि को प्राप्त नहीं कर सके। उनके चित्त की व्याकुलता किसी तरह दूर नहीं हुई। अन्त

मे उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि कठोर तपस्या के द्वारा वासना की आग नहीं बुझ सकती, और इस साधन के सहारे सत्य का निर्मल प्रकाश पाने की आशा भी दुराशा है। एक दिन सिद्धार्थ एक जामुन के पेड के नीचे बैठकर अपने मन की दशा और कठिन तपस्या के फलाफल का विचार करने लगे। उन्होने सोचा, मेरा शरीर अत्यन्त खिन्न हो गया है। उपवास करते-करते देह का पञ्जर मात्र बच रहा है, तथापि मुक्ति-मार्ग का कुछ पता न लगा। मैंने जिस कठिन साधन का अवलम्ब ग्रहण किया है वह किसी तरह मोक्ष-मार्ग मे परिगणित नहीं हो सकता। इसलिए इस समय उपयुक्त भोजन-पान के द्वारा शरीर को बलिष्ठ करके मन को मुक्ति-मार्ग की खोज में नियुक्त करना चाहिए।

इस प्रकार सिद्धान्त स्थिर करके उन्होने नेरञ्जना के निर्मल नीर मे भली भाँति स्नान किया। उनका शरीर ऐसा दुर्बल हो गया था कि बहुत चेष्टा करने पर भी वे अपनी शक्ति से किनारे पर न आ सके। आखिर वे नदी के गर्भ में झुकी हुई एक वृक्ष की डाल पकड़कर ऊपर आये।

सिद्धार्थ अपनी कुटी की ओर चले। किन्तु दुर्बलता के मारे वे मार्ग में मूर्च्छित होकर गिर पडे। पाँचो शिष्यों ने उनकी यह दशा देखकर समझा कि सिद्धार्थ की मृत्यु होगई। बहुत उपचार होने पर वे होश मे आये। कठोर तपस्या के प्रति सिद्धार्थ की श्रद्धा जाती रही, किन्तु अब वे किस

साधना-प्रणाली का अवलम्बन करें, सोच करके भी कुछ स्थिर न कर सके। चिन्ता की तरङ्गमाला सिद्धार्थ के संशयाकुल चित्त को डावाँडोल करने लगी। इसी समय एक दिन निद्रित अवस्था में उन्होंने स्वप्न देखा—"देवताओं के अधिप इन्द्र हाथ मे एक तीन तार का तम्बूरा लिये उनके सामने खडे हैं। तम्बूरे का एक तार वडी मजबूती से बँधा था। उसमें उँगली का आघात देने से कर्णकटु विकृत स्वर निकला। दूसरा तार बहुत ढीला था, उसमें से कोई सुर नहीं निकला। बीच का तार न बहुत ढीला था और न बहुत कसा, जैसा चाहिए ठीक उसी तरह बँधा था। उस तार पर चोट पडते ही उसकी मीठी आवाज चारो ओर गूँजने लगी।

नींद टूटने पर सिद्धार्थ का हृदय सत्य की विमल ज्योति से देदीप्यमान हुआ। साधना का उदार मध्य मार्ग उनकी मानसिक दृष्टि के आगे प्रत्यक्ष होगया। भोग-विलास और कठिन साधना के मध्यवर्ती सत्यमार्ग का अवलम्बन करके वे बोधि-प्राप्ति के लिए स्थिरसङ्कल्प हुए।

कठोर साधना करके स्वास्थ्य भङ्ग करना व्यर्थ है, यह जान कर सिद्धार्थ चिन्तित हुए। वे इस बात को अच्छी तरह समझ गये कि बलिष्ठ देह और बलिष्ठ मन ही बोधि प्राप्ति के लिए अनुकूल है। देह को सबल तथा मन को दृढ और चैतन्यशील करके उन्होंने पुन नई साधना में प्रवृत्त होने का निश्चय किया। इस सङ्कल्प के अनुसार वे एक दिन घडी रात रहते स्नान कर

पवित्र हो एक वृक्ष के नीचे परिष्कृत भूमि में ध्यान लगा कर बैठ गये।

समीप ही एक सेनानी गाँव था। वहाँ के एक धनवान् सेठ की पुण्यात्मा बेटी सुजाता अनेक व्रतसाधन का फल-स्वरूप एक पुत्र प्राप्त करके सोने की थाली मे खीर लेकर एक दिन वन देवी को पूजा चढ़ाने आई। उसकी एक दासी आगे-आगे आ रही थी। पेड़ के नीचे बैठे हुए दुबले-पतले सिद्धार्थ के ध्यानस्थित सुन्दर मुख की अपूर्व ज्योति देख वह विस्मित हुई और दौड़कर सुजाता के पास जाकर बोली—"देखो, देवता प्रसन्न होकर अपनी पूजा लेने के लिए देह धारण कर प्रत्यक्ष प्रकट हुए हैं।" सुनकर सुजाता बहुत खुश हुई। उसने झट लम्बी डग से पेड़ के नीचे पहुँचकर बड़ी भक्ति और श्रद्धा से पायस की थाली प्रत्यक्ष देवता के हाथ में अर्पण की। "तुम्हारी कामना पूरी हो" कहकर सिद्धार्थ ने उसका वह महादान ले लिया। स्वादिष्ट खीर भोजन से उनके दुर्बल शरीर में बल का सञ्चार हो आया। उन्होंने मधुर कण्ठ से सुजाता को कहा—भद्रे, मैं देवता नहीं हूँ, तुम्हारे सदृश मनुष्य हूँ। तुम्हारे हाथ के इस महादान ने आज मेरी प्राण-रक्षा की, मेरे मन में नवीन उत्साह का सञ्चार कर दिया। मैं जिस सत्य की खोज में राज्यसुख छोड़कर सन्यासी हुआ हूँ, उस सत्य प्राप्ति में तुम्हारा यह अन्न सहायक हुआ। मेरे मन में आज दृढ धारणा हुई है कि

उस सत्य को प्राप्त करके मैं कृतार्थ हो सकूँगा। तुम्हारा मङ्गल हो।

इस घटना के अनन्तर सिद्धार्थ नियमित रूप से भोजन करने लगे। उनका यह परिवर्त्तन देखकर पाँचो शिष्यो क मन मे भारी सन्देह उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा, सिद्धार्थ अपने जीवन के महान् उद्देश्य को भूलकर साधना के सत्यमार्ग से दूर हट गये हैं। अब तक वे लोग जिनको गुरु मानते थे उन्हे त्यागकर अब वहाँ से चल दिये। विमुख शिष्यों की यह श्रद्धा-हीनता देख सिद्धार्थ पीडित हुए। पश्चात् वे अन्त -करण की इस वेदना को दूर कर प्रशान्त मन से अकेले ही महासाधना मे प्रवृत्त होने के लिए तैयार हुए।

नैराश्य की काली घटा विलीन होने से सिद्धार्थ का चित्त निर्मल आनन्द से भर गया। उनके मनोगत आनन्द से विश्व-प्रकृति ने प्रसन्न मूर्ति धारण की। जब वे मन्द गति से बोधि (अश्वत्थ)वृक्ष की ओर जा रहे थे तब उनके आनन्द-पुलकित पैरों के स्पर्श से मानो धरती भी पुलकायमान हो रही थी। अपने महा-साधन की सफलता के सम्बन्ध में जब सन्देह का कुछ भी गन्ध उनके मन में न रहा तब वे भीतर और बाहर से आशा का झङ्कार सुनने लगे। उनका भीतर और बाहर जैसे पुकार कर कह रहा था—हे साधक, हे महानुभाव, सिद्धि मिलने का विजय-मुहूर्त्त आने में अब देर नहीं है, तुम महा साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त करके मङ्गल के आकर निर्वाण का आविष्कार करो।



बुद्धगया का मन्दिर

सन्ध्या के सुहावने समय में सिद्धार्थ पीपल (बोधि) के पेड़ तले नये तृण बिछाकर बैठे। साधना में प्रवृत्त होने के पहले तो उन्होंने यह सङ्कल्प किया—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थि मांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते॥

इस आसन पर मेरा शरीर भले ही सूख जाय, हड्डी, चमड़ा, मांस भले ही गल जायँ, परन्तु विविध उपायों से भी दुर्लभ बोधि को बिना प्राप्त किये मैं इस आसन को छोड़कर कहीं न जाऊँगा।

पुरुषसिंह सिद्धार्थ दृढ सङ्कल्प के कवच से अपने अङ्ग को सुरक्षित कर साधन-संग्राम में प्रवृत्त हुए। शुद्ध और निष्पाप होने के निमित्त वे अन्तर्गत पापलालसा को जड़ समेत उखाड़ फेंकने की साधना में लग पड़े। बुझने के पूर्व दीप की बत्ती जैसे बड़ी तेज़ी से जल उठती है, वैसे ही सिद्धार्थ की पापलालसाएँ सदा के लिए बुझ जाने के पहले थोड़ी देर तक प्रदीप्त हो उठीं। इस विद्रोही पापदल के साथ उनके हृदय में जो कुरुक्षेत्र का तुमुल युद्ध चल रहा था, उसका वर्णन विविध काव्यों और धर्मग्रन्थों में विशेषरूप से किया गया है। पाप-सैन्य के साथ सिद्धार्थ के उस युद्ध का वर्णन पढ़ने से कायर मनुष्य के मन में भी अपूर्व बल का सञ्चार हो जाता

है। भाँति-भाँति के प्रलोभन दिखाकर कामलोक के अधिपति मार ने जब उनके मन को मोहित करना चाहा तब वे मुक्त-कण्ठ से बोले —

मेरु पर्वतराज स्थानतु चलेत् सब जगत्रो भवेत्
सर्वे तारकसघ भूमि प्रपतेत् सज्ज्योतिपेन्द्रा नभात।
सर्वे सत्त्व करेय एकमतय शुष्येन्महासागरो
न त्वेव द्रुमराजमूलोपगतश्चाल्येत अस्मद्विध ॥

पर्वतराज मेरु भले स्थानच्युत हो, सम्पूर्ण ससार शून्य मे मिल जाय, समस्त नक्षत्र-मण्डली चाहे इन्द्र के साथ धरती पर गिर पडे, ससार के सभी जीवों का एक मत भले हो जाय और महासागर सूख जाय तथापि कोई मुझको इस वृक्ष के नीचे से नहीं हटा सकता।

एक-एक कर अनेक पापों ने प्रलोभन दिखाकर सिद्धार्थ के सङ्कल्प को बदलना चाहा। किन्तु उनके मानसिक दृढ सङ्कल्प ने उन पापो की सब चतुराई को व्यर्थ कर दिया। आखिर स्वय मार विविध अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर उन्हें पराजित करने को अग्रसर हुआ। पुरुषसिंह सिद्धार्थ ने गरजकर कहा—तुम अकेले ही क्यों ?

सर्वे य त्रिसाहस्र मेदिनी यदि मारै प्रपूर्णा भवेत्
सर्वेषा यथ मेरु पर्वतवर पाणीषु खड्गो भवेत्।
ते मह्य न समर्थ लोम चलितु प्रागेव मा घातितु
कुर्य्याच्चापि हि विग्रहे स्म वर्मितेन दृढम् ॥

ये तीन हज़ार मदिनी यदि मार से परिपूर्ण हों, और प्रत्येक मार के हाथ की तलवार यदि मेरुपर्वत के सदृश खूब लम्बी-चौड़ी हो, तथापि कवच से सुरक्षित मुझे परास्त करना तो दूर, मेरा वे बाल भी बाँका नहीं कर सकते।

मार भाग चला। सारी वासनाओं, सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर सिद्धार्थ का चित्त सत्य के स्वच्छ प्रकाश से पूर्ण हो गया। साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करके वे अब "बुद्ध" हुए। उनके मानसिक नेत्र के सामने जीव के समस्त दुःखों का मूलकारण प्रकट हुआ। उन्होंने सोचा—मनुष्य जब ज्ञान-दृष्टि के द्वारा अशुभ कर्म का फलाफल देखता है तभी वह वासना के आक्रमण से अपने को बचाता है। भोग विलास की लालसा से ही दुःख की उत्पत्ति होती है। वासना के क्षय के पहले मृत्यु होने पर भी मनुष्य शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि जीवित रहने की इच्छा रह जाने से उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है।

बुद्धदेव ने ज्ञान-नेत्र से देखा कि धर्म ही सत्य है, धर्म ही पवित्र विधि है, धर्म ही पर जगत् प्रतिष्ठित है और एकमात्र धर्म से ही मनुष्य भ्रान्ति, पाप और दुःखों के हाथ से छुटकारा पा सकता है।

उनके ज्ञानरूपी नेत्र के सामने जन्म-मृत्यु की सब कलई खुल गई। उनको दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निरोध और दुःख-निरोध का उपाय ये चारों 'आर्य सत्य' ज्ञात हो

गये—अर्थात् (१) जन्म मे दु ख है, जरा-व्याधि और मृत्यु में दु:ख है, अप्रिय के साथ मिलने मे दु ख है और प्रिय पदार्थ के विच्छेद मे दु ख है, (२) तृष्णा ही से दु ख की उत्पत्ति होती है, (३) तृष्णा की निवृत्ति होने से दु ख का निरोध होता है, (४) इस दु खनिवृत्ति के आठ उपाय हैं, यथा—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

छठा अध्याय

बुद्ध और उनके पाँच शिष्य

मुक्ति के विमल आनन्द से बुद्ध का हृदय परिपूर्ण हो गया। पेड के नीचे जहाँ साधना करके उन्होंने बुद्धत्व लाभ किया था वहाँ उन्होंने अकेले सात सप्ताह तक अपने नवलब्ध अमृतरूपी झरने की रसधारा का चुपचाप उपभोग किया।

बुद्धदेव ने इतने कठिन साधन के अनन्तर अब विश्वव्यापी आनन्द और अमृत का रस चक्खा है। सभी संस्कारों और वासनाओं का चय होने से उन्होंने निर्मल आनन्द और शाश्वत जीवन प्राप्त किया है।

अब बुद्ध के मन में इस बात की चिन्ता हुई कि निर्वाण की यह मङ्गलवाणी किस प्रकार सबको समझाई जाय। जिनके मन से अहबुद्धि का सम्पूर्ण रूप से नाश नहीं हुआ वे किसी तरह पूर्ण शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। यह अहङ्कार ही सब पाप, सब अशुभ और सब भ्रान्तियों का मूल कारण है। मेघ का एक टुकडा जैसे उतने बडे सूर्यमण्डल को छिपा लेता है

वैसे ही अहबुद्धि विश्वव्यापी आनन्द को अदृश्य और अज्ञेय कर डालती है।

बुद्धदेव ने सोचा, मैंने जिस महत् सत्य की प्राप्ति की है उसका प्रचार यदि मैं सर्वसाधारण में नहीं कर सका तो इससे जीव को क्या लाभ होगा? जो दु ख के फन्दे मे फँसकर जन्म-जन्मान्तर से विषय-वासना से जूझते हैं और उसके साथ साथ अशेप यन्त्रणा भोगते हैं उन्हें निर्वाण की वाणी सुनानी होगी। दु खों को दूर करनेवाला यह ज्ञानोपदेश एक बार उनके हृदय मे प्रवेश कर जाय तो वे परम शान्ति प्राप्त कर सकेंगे।

बुद्ध के मन में समय के लिए सशय उपस्थित हुआ। उन्होंने सोचा, जो लोग तृष्णा से अभिभूत हैं वे मेरे इस ज्ञानगम्य गम्भीर धर्म को न समझेंगे। उनकी चञ्चल-बुद्धि ससार के कार्य-कारण का नियम, पूर्वजन्मार्जित कर्म्म की वासना और उपाधि का निरोध तथा सयम और निर्वाण की धारणा नहीं कर सकेगी। इसलिए इस धर्म के प्रचार की मेरी चेष्टा व्यर्थ होगी। एक ओर यह सशय था, दूसरी ओर थी जीवों के प्रति अपार दया, दोनो ओर से बुद्ध के चित्त पर दबाव पड़ने लगा। अपने मन में आप ही तर्क-वितर्क करके आखिर उन्होंने यही सिद्धान्त स्थिर किया कि सत्यानुरागी श्रद्धालुओ के निकट पहले मुझे अपनी इस सत्य की वाणी का प्रचार करना होगा, इसके बाद सत्य धीरे धीरे आप ही अपनी

प्रतिष्ठा स्थापित करेगा। किन्तु कौन वह शक्ति-शाली पुरुष है जो पहले-पहल इस नये धर्म की पताका उड़ावेगा ?

सबसे पहले बुद्ध को अडारकालाम और रामपुत्र रुद्रक की याद आई। परन्तु उन्हें ज्ञात हुआ कि वे लोग अब जीवित नहीं हैं। इसके बाद उनको उन पाँच शिष्यों का स्मरण हो आया। इन श्रद्धाशील विश्वासी पाँच शिष्यों ने किसी समय धर्म-क्षुधा की शान्ति के लिए बुद्ध की अनुगामिता स्वीकार की थी। किन्तु उस समय बुद्ध का गुप्त से गुप्त आभ्यन्तरिक भाण्डार अमृतान्न से भरपूर न हुआ था। अतएव वे उन शिष्यों की धर्म्म-क्षुधा का निवारण ज्ञानरूपी अन्नदान के द्वारा न कर सके। किन्तु अब उनके भाण्डार में जो अमृत सञ्चित हुआ है उससे न केवल पाँच ही शिष्य वरन् समग्र स्त्री पुरुष तृप्ति लाभ कर सकते हैं। जो लोग एक दिन विमुख हो उन्हें छोड़कर चले गये थे, उन्हीं की खोज में वे अब विलम्ब न करके मृगदाव या ऋषिपत्तन की ओर लपके।

बुद्धदेव के आने की खबर पहले ही शिष्यों ने सुन ली थी। उन्हें यह बात किसी तरह ज्ञात न हुई थी कि सिद्धार्थ साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त करके बुद्ध हुए हैं। उन लोगों ने यही समझा कि सिद्धार्थ तपोभ्रष्ट होकर आ रहे हैं। उन्होंने मन ही मन निश्चय कर रक्खा था कि वे गुरु मानकर सिद्धार्थ का आदर न करेंगे। किन्तु समय उपस्थित होने पर कार्य उलटा हो पड़ा। बुद्धदेव के प्रसन्न मुख की दिव्य ज्योति देखते

ही शिष्यों के सभी संशय दूर हुए और मन श्रद्धा से झुक पड़ा। हृदय में भक्ति का सञ्चार हो आया। बुद्ध ज्योंही उन शिष्यों के सामने उपस्थित हुए, उन्होंने उनके पैर छूकर प्रणाम किया।

बुद्धने कहा—"प्रिय शिष्यगण, कठोर साधना और भोग-विलास की अधिकता इन दोनो के मध्यस्थित मङ्गलमय मुक्ति मार्ग का मैंने आविष्कार किया है। वह निर्वाण-पद प्राप्त करने का उपाय मैं तुमको दिखा दूँगा।" बुद्धदेव की यह ओजस्विनी वाणी सुनकर शिष्यों का हृदय श्रद्धा और भक्ति से परिपूर्ण हो गया। वे इस नूतन धर्म में दीक्षित होने के लिए व्यग्र हो उठे।

इसके अनन्तर एक दिन साँझ होने के कुछ पूर्व भगवान् बुद्धदेव अपने पाँचों शिष्यों को साथ ले ऋषिपत्तन के समीप एक सरोवर के किनारे गये। सरोवर के एक तट पर बहुत ऊँचा टीला था। उस टीले के नीचे घाट था। उसी घाट से होकर लोग सरोवर में स्नान करते थे। दीक्षार्थी शिष्य जब नीचे उतरकर जल के समीप पहुँचे तब बुद्ध ने कहा—वत्सगण, तुम लोगों का आज का स्नान और दिनों की भाँति सामान्य नहीं है। आज केवल देह का मैल धो डालने ही से तुम्हारा काम न चलेगा। आज तुम लोगों को देह और मन की सब मलिनता धो-पोंछकर भीतर से बाहर तक पवित्र होना पड़ेगा।

स्नान करके शिष्यगण घाट पर आये। बुद्धदेव ने पूछा—वत्सगण, तुम भीतर और बाहर से पवित्र होगये न ?

शिष्यों ने उत्तर दिया—"हाँ"। तब बुद्धदेव गम्भीर भाव से कहने लगे—"प्रिय शिष्यगण, सामान्यतः तीन श्रेणी के शिष्य देखे जाते हैं। एक श्रेणी के शिष्यों की तुलना औंधे घड़े से की जाती है। जैसे औंधा घड़ा पानी में डूबने पर भी नहीं भरता, वैसे ही उनका मन भी गुरु के उपदेश के प्रति विमुख होने के कारण किसी समय भी उपदेशामृत से पूर्ण नहीं होता। वे युगानुयुग गुरु के साथ रहकर भी कोई सुफल प्राप्त नहीं कर सकते। क्या तुम लोग इसी श्रेणी के शिष्य होना पसन्द करते हो ?" शिष्यों ने कहा—"नहीं।" बुद्ध कहने लगे—"द्वितीय श्रेणी के शिष्यों की उपमा "उत्सङ्गबदर" से दी जा सकती है। आँचल में बेर लेकर यदि कोई बिना बाँधे ही खड़ा हो जाय तो उसके आँचल में रक्खे सभी बेर धरती पर गिर पड़ते हैं। उसी तरह इस श्रेणी के शिष्य गुरु के आश्रम में रहते समय गुरु के अनेक गुण बाहर से ग्रहण करते हैं, तब तो उनके वचन, कार्य्य और व्यवहार से सुजनता प्रकट होती है, किन्तु गुरु के विविध सद्‌गुणों और उपदेशों को श्रद्धा-पूर्वक हृदय में अटका रखने का वे कोई यत्न वा चेष्टा नहीं करते। जब गुरु का साथ छोड़ कर वे दूर चले जाते हैं तब वे उन क्षणस्थायी गुणों को क्रोड स्थित बेर की तरह खो डालते हैं। उस समय उनका

स्वभाव बिलकुल बदल जाता है। वत्सगण, क्या तुम इस श्रेणी के शिष्य होने की इच्छा करते हो ?" उत्तर मिला—"नहीं"।

बुद्ध ने फिर गम्भीर स्वर से कहा—"तीसरी श्रेणी के शिष्यो की उपमा ऊर्ध्वमुख घडे से दी जाती है। सीधा घडा जैसे पानी मे डूबने के साथ लबालब जल से भर जाता है वैसे ही इस श्रेणी के शिष्यो का मन भी बेरोक गुरु के उपदेशामृत मे निमग्न होकर अमृतरस से पूर्ण हो उठता है। भरे हुए घडे का जल जैसे तृषित और सन्तप्त व्यक्ति की प्यास और ताप को मिटाता है, वैसे ही इस श्रेणी के शिष्यों का हृदय-घटस्थित अमृतरस भी सैकडो-हजारो पाप-ताप से जर्जरित नर-नारियो का पाप-ताप दूर कर डालता है। क्या तुम लोग इस श्रेणी के शिष्य होना पसन्द करते हो ?" शिष्यों ने विनीत भाव से दृढता-पूर्वक कहा—"हाँ।"

रात की स्निग्धता और निस्तब्धता सर्वत्र फैल गई। गुरु के पीछे-पीछे शिष्यगण जल के समीप से घाट के ऊपर आये। श्रद्धा से विनीत शिष्यों ने अपने हृदय-पात्र को मुँह खोलकर चुपचाप गुरु के सामने रख दिया। गुरु अपने सत्यधर्म की रसधारा बरसाने लगे।

शिष्यो ने हृदय से इस बात को समझ लिया कि इस सत्य-धर्म के आदि मे भी कल्याण है और अन्त में भी। गुरु के उपदेश से उनके चित्त का सब संशय दूर होते ही उन्होंने (१)

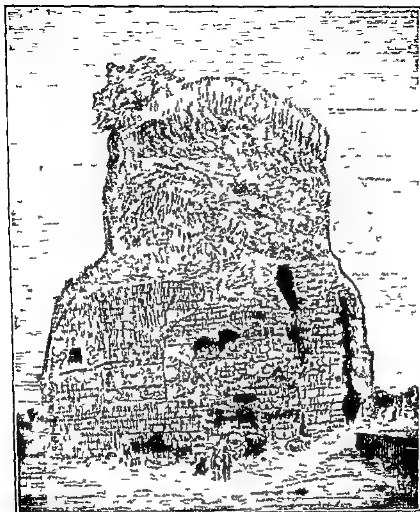
संसार में दुःख का अस्तित्व, (२) दुःख की उत्पत्ति का कारण, (३) दुःख के अतिक्रम का मार्ग और (४) दुःख निवृत्ति का उपाय, इस चतुष्टय आर्य-सत्य को स्पष्ट रीति से जाना, अर्थात् उनकी समझ में यह बात आ गई कि संसार में सुख-दुःख दोनों का होना सत्य है, दुःख उत्पन्न होने का कारण है, यह सत्य है, दुःख से निष्कृति हो सकती है, यह सत्य है, और दुःख दूर करने का उपाय है, यह भी सत्य है। इन दुःखों को दूर करने के लिए (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक्-सङ्कल्प, (३) सम्यक् वाणी, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यगाजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि, इस अष्टाङ्ग साधना की आवश्यकता है।

शिष्यों ने समझ लिया कि दुःख दूर करके परम आनन्द और परम शान्ति लाभ करने के लिए जो साधन करना होता है वह निःसार बाह्यिक अनुष्ठान नहीं है, उस साधन को ग्रहण करने के लिए, उस साधन के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के लिए दृष्टि, सङ्कल्प, वाक्य, कर्म, जीविका, व्यायाम, स्मृति, और ध्यान को पवित्र करना होगा।

अपूर्व आनन्द में मग्न हो सारी रात जागकर शिष्यों ने खूब जी लगाकर गुरु के मुँह से नव-धर्म की अमृतमयी वाणी सुनी। अरुणोदय काल में फिर स्नान आदि क्रिया करके वे गुरु के साथ ऋषिपत्तन को लौट आये। गुरु के आदेश से वे उसी जगह एक ओर पूरब मुँह करके खड़े हुए। गुरु के चरणों में

सिर नवाकर उन्होंने गुरु को और उनके द्वारा उपलब्ध महा-सत्य को हृदय मे स्वीकार किया।

आगे चलकर राजर्षि अशोक ने इस पवित्र स्थान मे अनेक प्रकार के शिल्पकार्यों से सुशोभित एक मनोहर स्तूप बनवाया था। यह स्तूप इस समय "सारनाथ स्तूप" के नाम से प्रसिद्ध है।



सारनाथ का स्तूप

सातवाँ अध्याय

नये धर्म का प्रचार और व्याप्ति

पाँचो शिष्यो में पहले कौण्डिन्य ने नये धर्म का गूढ तात्पर्य भली भाँति समझा। क्रमश और चारो ने भी धीरे-धीरे इस सब दु खों के संहारकर्ता कल्याणमय धर्म को हृदयङ्गम किया। वे लोग जब इस धर्म के तत्त्व को बखूबी समझ गये तब बुद्ध ने उन्हें सम्बोधन कर कहा—"भिक्षुगण, सद्धर्म ग्रहण करके तुम लोगो ने नया जन्म पाया है, तुम परस्पर एक दूसरे को सगे भाई जानो, प्रेम मे—पवित्रता में, सत्य के प्रति अविचल निष्ठा मे तुम लोग एक हो जाओ।

"सम्यक् सङ्कल्प को ग्रहण कर के मनुष्य जन अकेला सत्य साधना में प्रवृत्त होता है, तब भी वह बीच-बीच में दुर्बल हो पडता है, उस समय भी उसके सत्यमार्ग से भ्रष्ट होने की आशङ्का रहती है, इसलिए तुम परस्पर एक दूसरे की सहायता करना, परस्पर सहानुभूति रखकर एक दूसरे की साधुचेष्टा के अनुकूल रहना। तुम लोगों का भ्रातृभाव पवित्र हो,

तुम लोगों का यह 'सङ्घ' श्रद्धावान् पुरुषों की मिलन-भूमि हो।"

इसी समय एक दिन काशीधाम के एक धनवान् वणिक का बेटा 'यश' संसार से विरक्त हो चुपचाप रात को अपने घर से भाग निकला। ऋषिपत्तन में जहाँ भगवान् बुद्धदेव रहते थे वहाँ आकर वह युवक बोल उठा—"हा, कैसा उपद्रव है! कैसा विघ्न है!" बुद्ध ने स्नेह और करुणा से भरे स्वर में कहा—"यहाँ कोई उपद्रव नहीं, कोई झञ्झट नहीं है। तुम मेरे पास आओ, मैं तुमको धर्म-शिक्षा दूँगा।" बुद्ध के समीप आकर वह युवक बैठ गया। बुद्ध ने उसे दुःख-निवृत्ति की शुभवाणी सुनाई। यश के ज्ञान-नेत्र खुल गये। उसने सान्त्वना प्राप्त करके सन्तुष्ट हो बुद्ध के चरणों में अपने को अर्पित कर दिया।

सेठ का बेटा यश मूल्यवान् गहने पहने था, इससे वह मन ही मन लज्जित हो रहा था। बुद्ध ने कहा—वत्स, धर्म बाहरी वस्तु से सम्बन्ध नहीं रखता, यह तो आभ्यन्तरिक है, मन से सम्बन्ध रखता है। बहुमूल्य भूषण-वस्त्र से विभूषित व्यक्ति भी अपनी कामना पर विजय प्राप्त कर सकता है, और काषायवस्त्रधारी श्रमण का मन भी सांसारिक भोग-विलास में निमग्न रह सकता है। वास्तव में सन्यासी और गृही इन दोनों में कोई भेद नहीं। जिसने अपनी अहंता को हृदय से दूर कर दिया है वही कल्याणमय सत्य मार्ग को पा सकता है।

यश का पिता पुत्र की खोज में आया था। बुद्ध का मधुर उपदेश सुन कर वह भी मुग्ध हो गया। गृहस्थों में पहले-पहल वही बुद्ध से दीक्षित हुआ। यश घर को नहीं लौटा, वह नूतन धर्म में दीक्षित होकर सङ्घ में भर्ती हो गया।

थोड़े ही दिनो में बुद्ध का सुयश चारो ओर फैल गया। उनके मुख से मधुर धर्मकथा सुनने के लिए झुण्ड के झुण्ड लोग आने लगे। शान्तिप्रद मुक्ति के लिए कितने ही लोगो ने प्रचलित धर्ममत' त्याग कर नया धर्म ग्रहण किया। कई महीने में बुद्ध के साठ शिष्य हो गये। उन्होंने बरसात भर शिष्यो को साथ ले नव धर्म की आलोचना की। सत्य-मार्ग क पथिक श्रद्धालु पुरुषों के मन में इस धर्म की मङ्गल वाणी चिरकाल के लिए अङ्कित हो गई। वर्षाकाल बीत जाने पर बुद्ध ने शिष्यो से कहा—भिक्षुओ, ससार के हित के लिए, ससारी मनुष्यों के सुख के लिए लोगों पर दया करके इस नित्य-कल्याणकारी, मध्यकल्याणकारी, अन्तकल्याणकारी नये धर्म के सत्योपदेश का देश-देश मे गाँव गाँव में प्रचार करना होगा। तुम लोगों मे से दो व्यक्ति एक ही ओर न जायँ। तृष्णा की धूल से जिनके मानसिक नेत्र ढँपे न होंगे उनको अनायास ही इस धर्म की सत्यता सूझ पड़ेगी। अमृत के अपूर्व रस का आस्वादन करते ही मनुष्य विषयोपभोग का दासत्व त्याग कर निर्वाण (मुक्ति)-मार्ग के यात्री होंगे। तुम लोग अदम्य उत्साह के साथ मनुष्यो के घर-घर में इस परित्राणकारी धर्मोपदेश का प्रचार करो।

बुद्धदेव ने धर्म-प्रचार के उद्देश्य से आप उरुबिल्व की ओर यात्रा की। शिष्यगण भी गुरु की आज्ञा के अनुसार धर्म-प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न दिशा मे गये। उरुबिल्व उस समय 'जटिल' सम्प्रदाय के आश्रयीभूत अग्नि उपासको का प्रधान स्थान था। सुप्रसिद्ध काश्यप इस मत के आचार्य थे। बुद्ध ने इस प्रवीण आचार्य के यहाँ आतिथ्य-ग्रहण किया। उनके शान्तिभाव से भरे मुख की ओजस्विनी कान्ति, मधुर-व्यवहार, और आनन्द-प्रद शुभवार्ता ने काश्यप को मुग्ध कर दिया। वृद्ध काश्यप ने इन प्रतिभाशाली युवक महापुरुष का शिष्यत्व स्वीकार करने में कुछ भी सकोच नहीं किया। उनके अनुगत जितने अग्निपूजक ब्रह्मचारी थे वे भी बुद्ध के शरणापन्न हुए। उन्होंने अपने अग्नि-पूजा के विविध उपकरण पात्र आदि नदी के गर्भ मे फेक दिये।

उरुबिल्व, में काश्यप के दो भाई नदीकाश्यप और गया-काश्यप समीप ही रहते थे। वे नदी मे बहते हुए पूजापात्र देखकर चिन्तित चित्त से अनुचरों के साथ भाई के आश्रम में आये। बुद्धदेव वहाँ भिक्षुओं को उपदेश दे रहे थे—"हे भिक्षुगण, देखो, ये सभी जल रहे हैं। तृष्णा की आग में, द्वेष की आग मे और मोह की आग में ये सब जल रहे हैं। जन्म, बुढापा, व्याधि, मरण और शोकदु ख की आग मे ये सभी जल रहे हैं। इस प्रकार अपने दु ख की बात सोचने से वैराग्य उत्पन्न होता है और चित्त मुक्ति पाने की ओर उत्सुक

होजाता है। बुद्ध का मधुर उपदेश सुनकर अग्नि-पूजक 'जटिल' मुग्ध हुए। उन्होंने नूतन धर्म का आश्रय ग्रहण किया।

काश्यप और अन्यान्य बहुत से शिष्यों के साथ बुद्ध उरु-बिल्व से राजगृह गये। उनके आने की खबर पाकर राजा बिम्बिसार अनुचरों को साथ ले उनके पास आये। बुद्ध के शान्त स्वभाव और तेज पूर्ण मुख की शोभा देखकर आगत व्यक्ति बहुत प्रसन्न हुए। बुद्धदेव ने उन आगत व्यक्तियों को नये धर्म की बात समझा दी। उनके उपदेश का मर्म यही था—सब पापों का परित्याग, शुभ कर्म का सम्पा-दन और अन्त करण की पवित्रता ही संक्षेप में धर्म है। माता जैसे अपने प्राण देकर भी पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही जो सत्यधर्म जानते हैं वे भी अपने जीवन को तुच्छ जान सब जीवों पर वही कृपा और प्रेम भाव रखते हैं। उनकी हिंसा-रहित, द्वेष-रहित, बाधा-रहित प्रीति इस लोक में क्या लोक-लोकान्तर में भी व्याप्त हो रहती है। वे इसी मैत्री-भाव में नित्य विहार करते हैं।

सुमधुर धर्मवाणी सुनकर मगधराज बिम्बिसार का अन्त-करण भक्ति और आश्चर्य से भर गया। बुद्ध के चरणों में शीश नवा कर उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। बुद्ध और उनके अनुगामियों के रहने के लिए राजा ने नगर के बाहर "वेणुवन" नामक एक मनोहर उद्यान (बाग) दिया। इसी समय बुद्धदेव के पाँच शिष्यों में से एक, अश्वजित, जम्बूद्वीप में

परिभ्रमण कर राजगृह में गुरु के समीप लौट आया। वह एक दिन भिक्षापात्र हाथ में ले बस्ती के भीतर जा कर घर-घर भीख माँग रहा था, ऐसे समय में उपतीष्य नामक एक विरक्त जिज्ञासु ब्राह्मण उसकी वह प्रशान्त सौम्य मूर्ति देखकर विस्मित हुआ। उपतीष्य के मन में दृढ विश्वास उत्पन्न हुआ कि इस भिक्षुक को जरूर सत्य मार्ग का पता लग गया है। उन्होंने विनीत होकर अश्वजित् से पूछा—"महाशय, आप किस महात्मा के शिष्य हैं?" अश्वजित् ने बुद्ध का नाम लिया। उपतीष्य ने बुद्ध का धर्ममत सुनने के लिए फिर कुछ पूछा। अश्वजित् ने समझा, उपतीष्य नूतन धर्म-मत का खण्डन करने के लिए शायद उसके साथ शास्त्रार्थ करेंगे। इसलिए उसने कुछ सकोच से कहा—"धर्म का विषय बड़ा ही गम्भीर है। मैं कल का छोकरा हूँ, मैं किस तरह आपके आगे धर्मतत्त्व की व्याख्या करूँ?" उपतीष्य ने कहा—"महाशय, आप किसी तरह का सकोच मत कीजिए। आप अपने धर्म के विषय मे अनुग्रह-पूर्वक कुछ कहिए, उसे सुनकर मैं परम आनन्दित हूँगा।" इस पर अश्वजित् के मुँह से नये धर्म की मधुर व्याख्या सुनकर उपतीष्य इस धर्म का आश्रय ग्रहण करने को व्यग्र हो उठे, उन्होंने क्षणमात्र विलम्ब न कर अपने प्रिय मित्र कोलित के पास जाकर उसे सूचित किया कि उन्हें इतने दिन बाद मुक्तिमार्ग का पता लगा है। दोनों मित्र थोड़े ही दिनों के भीतर नये धर्म में दीक्षित हुए। दीक्षा ग्रहण करने पर उपतीष्य का नाम

रिपुत्र और कालित का मौद्गल्यायन हुआ। इन दोनो मित्रों अपनी अटल धर्मनिष्ठा के कारण शीघ्र ही सङ्घ में प्राधान्य न कर लिया।

इसके कुछ दिन बाद एक पूर्णमासी की रात में बुद्ध के ष्यगण राजगृह के समीप की एक पहाड़ी गुफा में एकत्र ए। सम्मिलित साधुओं के निकट धर्मतत्त्व की व्याख्या करते मय शुरू में बुद्ध ने यही कहा था—

सर्वपापस्स अकरण कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एत बुद्धान सासनम्॥

सब प्रकार से पाप का त्याग, शुभ कर्म का अनुष्ठान र चित्त की निर्मलता ही बुद्धों का अनुशासन है।

मगध प्रदेश में बहुत लोगो को नये धर्म में दीक्षित होते देख, नके अभिभावकों में एक असन्तोष का भाव प्रकट हुआ। वे ग कहने लगे—"शाक्य मुनि ने पति-पत्नी में विच्छेद करा- र सृष्टिलोप करने का आरम्भ कर दिया है।" उन लोगों बौद्ध भिक्षुओं को चिढाते हुए कहा—"तुम्हारे गुरु युवकों ा जादू के बल से वश कर रहे हैं। इस समय किसके पर उनकी नजर है? उन्होंने इस समय किसको जादू रके घर से निकालने का जाल रचा है?" ये सब ातें सुनकर बुद्धदेव ने अपने शिष्यों से कहा—तुम लोग न्ता मत करो। लोगो का यह असन्तोष अधिक दिनो क नहीं टिक सकता। तुम लोग उपहास करनेवालों से

धीरतापूर्वक कहना—"बुद्धदेव लोगों को सत्यमार्ग पर ले जाने की चेष्टा करते हैं, वे सयम, धर्मनिष्ठा और परित्राण पाने के उपाय का प्रचार करते रहते हैं।"

इसी समय सुदत्त नामक एक सत्यधर्मानुरागी धनवान् व्यक्ति महापुरुष बुद्धदेव का सुयश सुनकर उनके दर्शन करने को राजगृह आया। अमित ऐश्वर्य का अधिकारी यह धर्मात्मा व्यक्ति कोशलराज की राजधानी श्रावस्ती नगरी का निवासी था। यह दरिद्रों का मित्र और निराश्रयों का आश्रय था। अनाथों को अन्न देने के कारण यह अनाथपिण्डद नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध था। बुद्धदेव ने इस धर्मात्मा धनी के हृदय की साधुता का परिचय पाकर इसे मधुर धर्मोपदेश से प्रसन्न किया। बुद्ध का हृदयाकर्षक उपदेश सुनकर अनाथपिण्डद मुग्ध हो गया। उसने निश्छल भाव से कहा—"प्रचुर सम्पत्ति का अधिकारी होने के कारण मेरे मन को सर्वदा चिन्ता घेरे रहती है, तथापि काम करके मैं आनन्द पाता हूँ। मैं सदा कुछ न कुछ काम-काज करता रहता हूँ। कितने ही लोग मेरी अधीनता मे काम करते हैं, मेरी सफलता के ऊपर उनका भाग्य निर्भर रहता है।

"भगवन्! आपके शिष्य गृहत्यागी साधु-जीवन की शान्ति की प्रशसा और सासारिक जीवन की अशान्ति की निन्दा करते हैं। वे कहते हैं—आपने सब प्रकार की सम्पत्ति और भोग-विलास त्यागकर धर्मराज्य की अचल प्रतिष्ठा की

है और ससारी मनुष्यों के लिए निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग का दृष्टान्त दिखाया है।

"प्रभो, शुभ कर्म मे नियुक्त रहकर भी मैं लोकसेवा के पीछे व्याकुल रहता हूँ। इस समय मुझे यह पूछना है कि परम-कल्याण-प्राप्ति के निमित्त क्या मुझको धन-सम्पत्ति, घर द्वार और वाणिज्य व्यवसाय त्यागकर उदासीन होना पडेगा?" बुद्ध ने कहा—"जो आर्यमार्ग का अवलम्बन करेंगे वही शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। जिन्हे ऐश्वर्य का नशा चढा हुआ है उनके लिए उसका त्याग करना ही अच्छा है, किन्तु धन-सम्पत्ति मे जिनकी आसक्ति नहीं, जो प्रसन्न मन से अपने धन को लोकोपकारी कार्य मे खर्च कर सकते हैं, उनको सम्पत्ति परित्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं।

"मेरी बात सुनो। तुम मर्यादा-सहित अपने पद पर प्रतिष्ठित रहकर अपनी शक्ति के अनुसार वाणिज्य व्यवसाय और श्रीवृद्धि का साधन करो। मेरा धर्म किसी को व्यर्थ गृहहीन नहीं बनाता। मेरा धर्म अहकार, मलिनता और भोग-विलास त्याग कर सन्मार्ग मे विचरण करने के लिए लोगों को बुलाता है।

"गृह त्यागी भिक्षु भी यदि पुरुषार्थ-हीन, निरुद्यम, आलसी और विलासप्रिय हो, तो उन्हें भी कल्याण प्राप्ति नहीं हो सकती।

"क्या गृहस्थ, क्या गृहत्यागी, जिनके मन मे बराबर पवित्र धर्म की चिन्ता बनी रहती है, धर्मार्थ ही जिनके मन कर्म होते

हैं, जो पानी में कमल दल की भाँति संसार में रहकर अनासक्त-भाव से विचरण करते हैं, निःसन्देह वही परमानन्द, परम-कल्याण और शान्ति प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं।"

बुद्ध की पवित्र वाणी सुनकर अनाथपिण्डद आनन्द से पुलकित हो गया। उसने श्रद्धा से नम्र होकर कहा—मैं बौद्ध साधुओं के रहने के लिए श्रावस्ती नगरी में एक विहार बनवा देना चाहता हूँ। मेरी यह प्रार्थना पूर्ण कर दी जायगी तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

अनाथपिण्डद का उदार हृदय सम्पूर्ण रूप से उद्घाटित हो गया था। अपनी दिव्य दृष्टि से इस पुण्यशील धनी महाजन की उदारता देखकर बुद्ध परम आनन्दित हुए। उसका दान स्वीकार करने में अपनी सम्मति सूचित करके उन्होंने कहा—

"दानी उदार पुरुष सभी के प्रिय होते हैं, उनका बन्धुत्व बड़ा ही मूल्यवान् माना गया है। मृत्यु के अनन्तर उनको अनुतप्त नहीं होना पड़ता, इसलिए उन्हें मृत्यु का भय नहीं रहता। देहान्त होने पर भी उनका जीवात्मा आनन्द और शान्ति पाता है। अपने किये हुए शुभकर्म्म का सुन्दर फल वे इस लोक में तथा परलोक में अवश्य प्राप्त करते हैं।

'बहुत लोग इस पर विश्वास नहीं करते कि भूखों को अन्न देने से हमारी बलवृद्धि होती है, वस्त्र-विहीन को वस्त्र देने से हमारे सौन्दर्य्य की वृद्धि होती है और गृह हीन दीन जनों के रहने के लिए धर्मशाला बनाने में धन खर्च करने से धन बढ़ता है।

"सुचतुर योद्धा जैसे युद्ध-कला मे सब प्रकार निपुण होने के कारण बडे कौशल के साथ युद्ध-परिचालन करता है वैसे ही साधुशील बुद्धिमान् दाता को समय-असमय, पात्र-अपात्र का ज्ञान होने से वह भली भाँति अपने पुण्यव्रत का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार जिस दाता का चित्त प्रीति और दया से आर्द्र है वह श्रद्धा-पूर्वक दान करता है, उसके हृदय से निष्ठुरता, हिंसा, द्वेष और क्रोध दूर हो जाता है।

"दान-शील साधु पुरुषों का शुभकर्म्म उनकी मुक्ति की सीढी है। वे अपने जिस शुभकर्म-स्वरूप सरस वृक्ष का बीज बोते हैं, वह भविष्य मे उनको छाया, फूल, फल देगा ही।"

अनाथपिण्डद जब अपने घर कोशल को लौटने लगा तब विहार बनाने की जगह निर्दिष्ट कर देने के लिए सारिपुत्र को साथ लेता गया।

बुद्धदेव जब राजगृह में थे तब उनके पिता शुद्धोदन ने एक आदमी के द्वारा पुत्र को कहला भेजा—मैं अब बूढा हूँ। कुछ दिन मे इस ससार से चल बसूँगा। क्या मालूम, किस दिन यह चोला छूट जाय। मृत्यु के पूर्व एक बार तुमको देखने के लिए मेरा चित्त उत्कण्ठित हो रहा है। तुम्हारे नवीन धर्म का उपदेश सैकडो हजारों आदमी सुनकर उपकृत हो रहे हैं, अपने पिता और स्वजनवर्ग को उससे क्यों वञ्चित किये हो?

हैं, जो पानी में कमल दल की भाँति संसार में रहकर अनासक्त-भाव से विचरण करते हैं, निःसन्देह वही परमानन्द, परम-कल्याण और शान्ति प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं।"

बुद्ध की पवित्र वाणी सुनकर अनाथपिण्डद आनन्द से पुलकित हो गया। उसने श्रद्धा से नम्र होकर कहा—मैं बौद्ध साधुओं के रहने के लिए श्रावस्ती नगरी में एक विहार बनवा देना चाहता हूँ। मेरी यह प्रार्थना पूर्ण कर दी जायगी तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

अनाथपिण्डद का उदार हृदय सम्पूर्ण रूप से उद्घाटित हो गया था। अपनी दिव्य दृष्टि से इस पुण्यशील धनी महाजन की उदारता देखकर बुद्ध परम आनन्दित हुए। उसका दान स्वीकार करने में अपनी सम्मति सूचित करके उन्होंने कहा—

"दानी उदार पुरुष सभी के प्रिय होते हैं, उनका बन्धुत्व बड़ा ही मूल्यवान् माना गया है। मृत्यु के अनन्तर उनको अनुतप्त नहीं होना पड़ता, इसलिए उन्हें मृत्यु का भय नहीं रहता। देहान्त होने पर भी उनका जीवात्मा आनन्द और शान्ति पाता है। अपने किये हुए शुभकर्म्म का सुन्दर फल वे इस लोक में तथा परलोक में अवश्य प्राप्त करते हैं।

'बहुत लोग इस पर विश्वास नहीं करते कि भूखों को अन्न देने से हमारी बलवृद्धि होती है, वस्त्र-विहीन को वस्त्र देने से हमारे सौन्दर्य्य की वृद्धि होती है और गृह हीन दीन जनों के रहने के लिए धर्मशाला बनाने में धन खर्च करने से धन बढ़ता है।

'बेटा, तुम राजपुत्र होकर क्यों घर-घर भीख माँगते फिरते हो ? पेट के लिए तुम स्वय इतना क्लेश उठाकर क्यो हमें लज्जित कर रहे हो ? क्या हम तुम्हारे खाने-पीने का प्रबन्ध नहीं कर दे सकते ?" बुद्ध ने जवाब दिया—"भिक्षा करना ही मेरी परम्परागत प्रथा है।" शुद्धोदन ने विस्मित होकर कहा—"यह क्या कहते हो ? तुमने राजकुल में जन्म लिया है। तुम्हारे वंश मे किसने कब भीख माँगकर निर्वाह किया है ?" बुद्ध ने कहा—"राजन्, आप और आपके पिता-पितामहों ने अवश्य राजकुल में जन्म लिया है किन्तु मैं तो पूर्ववर्ती बुद्धों के वंश मे ही उत्पन्न हुआ हूँ। उन सबका निर्वाह भिक्षा के अन्न से होता था।" शुद्धोदन विस्मित हो रहे। बुद्ध कहने लगे—राजन्, पुत्र को यदि कोई अमूल्य रत्न प्राप्त होता है तो वह स्वभावत उस दुर्लभ रत्न को पिता के चरणों में अर्पण करना चाहता है। मैंने बहुत-बहुत साधना करके जो अति दुर्लभ धर्म-धन प्राप्त किया है उस रत्न-भाण्डार का द्वार आज आपके सामने खोलने की आज्ञा चाहता हूँ। आप कृपा करके उस रत्न को ग्रहण कीजिए।

बुद्ध ने अपने हृदय के अन्तस्तल मे जिस सत्य धर्म को उपलब्ध किया था उसी का व्याख्यान किया। इस नये धर्म में शुद्धोदन को अनुराग हो गया। बुद्ध को लेकर वे राजभवन मे आये। वहाँ सभी पुरवासियो ने एकत्र होकर बुद्ध को प्रणाम किया।

दूत के मुँह से पिता का अभिप्राय सुनकर बुद्ध ने तुरन्त कपिलवस्तु को प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर नगर के समीप एक बगीचे में वे शिष्यों के साथ जा टिके।

घर-द्वार छोडने के सात वर्ष बाद पिता ने पुत्र को फिर संसार-धर्म ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। बुद्ध इस अनुरोध की रक्षा न कर सके। उन्होंने विनीत भाव से कहा—आपका हृदय स्नेहभाव से द्रवित हो रहा है। आप मेरे लिए दुःसह क्लेश का अनुभव कर रहे हैं। जिस असीम स्नेह से आपने मुझको अपने मन में बाँध रक्खा है उस स्नेह को आप मनुष्यमात्र में बाँट दीजिए। इससे एक सामान्य सिद्धार्थ खोने के बदले आपको बहुत बड़ा सिद्धार्थ मिल जायगा और निर्वाण की शान्ति आपके चित्त पर अधिकार करेगी।

पुत्र के मुँह से यह अमृतमयी वाणी सुनकर शुद्धोदन की आँखें भर आईं। उन्होंने गद्गद कण्ठ से कहा—तुमने राज्य का भोग-विलास छोडकर महानिष्क्रमण द्वारा परम कल्याण प्राप्त किया है। तुमने निर्वाण का मार्ग ढूँढ निकाला है। तुम अब सब जीवों को मुक्ति का उपदेश करो।

शुद्धोदन घर लौट आये। बुद्धदेव नगर के समीपवर्ती उद्यान में रहने लगे।

दूसरे दिन सबेरे बुद्ध भिक्षा के लिए बस्ती में घूमने गये। बेटा घर-घर भीख माँग रहा है, यह सुनकर पिता शुद्धोदन शीघ्र उनके पास गये। राजा ने उदास मुँह करके उनसे पूछा—

'बेटा, तुम राजपुत्र होकर क्यों घर-घर भीख माँगते फिरते हो? पेट के लिए तुम स्वय इतना क्लेश उठाकर क्यो हमे लज्जित कर रहे हो? क्या हम तुम्हारे खाने-पीने का प्रबन्ध नहीं कर दे सकते?" बुद्ध ने जवाब दिया—"भिक्षा करना ही मेरी परम्परागत प्रथा है।" शुद्धोदन ने विस्मित होकर कहा—"यह क्या कहते हो? तुमने राजकुल मे जन्म लिया है। तुम्हारे वंश मे किसने कब भीख माँगकर निर्वाह किया है?" बुद्ध ने कहा—"राजन्, आप और आपके पिता-पितामहो ने अवश्य राजकुल में जन्म लिया है किन्तु मैं तो पूर्ववर्ती बुद्धों के वंश में ही उत्पन्न हुआ हूँ। उन सबका निर्वाह भिक्षा के अन्न से होता था।" शुद्धोदन निस्मित हो रहे। बुद्ध कहने लगे—राजन्, पुत्र को यदि कोई अमूल्य रत्न प्राप्त होता है तो वह स्वभावतः उस दुर्लभ रत्न को पिता के चरणों मे अर्पण करना चाहता है। मैंने बहुत-बहुत साधना करके जो अति दुर्लभ धर्म-धन प्राप्त किया है उस रत्न-भाण्डार का द्वार आज आपके सामने खोलने की आज्ञा चाहता हूँ। आप कृपा करके उस रत्न को ग्रहण कीजिए।

बुद्ध ने अपने हृदय के अन्तस्तल मे जिस सत्य धर्म को उपलब्ध किया था उसी का व्याख्यान किया। इस नये धर्म में शुद्धोदन को अनुराग हो गया। बुद्ध को लेकर वे राजभवन मे आये। वहाँ सभी पुरवासियों ने एकत्र होकर बुद्ध को प्रणाम किया।

इस सम्मिलन में सिद्धार्थ की सहधर्मिणी गोपा उपस्थित न थीं। पूछने पर उन्हें मालूम हुआ कि गोपा स्वयं अग्रगामिनी हो उनसे मिलना नहीं चाहती। यह सुनकर बुद्ध स्वयं उसको देखने अन्त:पुर में गये। चिर-वियोग के अनन्तर पहली भेंट के समय गोपा अपने हृदय के गम्भीर शोक को न रोक सकी। वह अपने परम आराध्य देवता के पैरों पर गिरकर रोने लगी। शोक का आवेग कम होने पर वह एक तरफ सिर झुकाकर बैठ रही। स्वामी के मुँह से निकले हुए मधुर धर्मोपदेश से गोपा का हृदय पात्र भर गया। उसने शान्ति प्राप्त करके अपने स्वामी के नये धर्म को ग्रहण किया।

कपिलवस्तु के बहुत लोगों ने उस समय बुद्धोपदिष्ट धर्म को ग्रहण किया था। इनमें बुद्ध की सौतेली माँ प्रजावती गौतमी का पुत्र नन्द, उनका चचेरा भाई देवदत्त, क्षौरकर्ता उपालि, दार्शनिक अनुरुद्ध और उपस्थायक आनन्द इतिहास में विशेष प्रसिद्ध हैं।

'आनन्द' बुद्धदेव के मन का आदमी था। वह उनके मन के अनुकूल कार्य करने में दक्ष था। आनन्द जिस तरह सहज भाव से बुद्ध का उपदेश ग्रहण कर सकता था, उस तरह और कोई नहीं। उसका मन श्रद्धा और विनय से नम्र था। उसने बुद्ध के जीवनावशेष पर्यन्त निरन्तर छाया की भाँति अनुगमन करके जी-जान से उनकी सेवा की थी।

कपिलवस्तु नगरी में बुद्ध एक दिन राजभवन के समीप
सी जगह भोजन करने बैठे थे। गोपा ने झरोखे से
। को देखकर अपने सात वर्ष के पुत्र राहुल को राजसी
शाक पहनाकर कहा—बेटा, ये जो सौम्यमूर्ति साधु भोजन
र रहे हैं वही तुम्हारे पिता हैं। इन महात्मा ने रत्नों की
र खानों का पता लगाया है, तुम उनके पास जाकर पिता
धन पर अधिकार कर लो।

माता की आज्ञा के अनुसार राहुल ने पिता के पास
कर उनसे वह धन देने की प्रार्थना की। बुद्ध ने कहा—
बेटा, मेरे पास दुनिया की धन-दौलत नहीं है। हाँ, जो
म धर्मरूपी धन लेना चाहो तो मैं तुमको वह दे सकता
।" राहुल ने उसी धन के लिए प्रार्थना की। बचपन में
राहुल राज्य का सुख-सम्भोग छोड़-छाड़कर गृहहीन हो
ता का अनुगामी होगया। प्राण से भी बढ़कर प्यारे पौत्र के
क्षु हो जाने की खबर सुनकर शुद्धोदन शोक से अधीर हो
ठे। उन्होंने जाकर बुद्ध को अपने मन की वेदना जताई।
द्ध-शुद्धोदन एक-एक कर अपने पुत्र सिद्धार्थ और नन्द,
तीजे देवदत्त तथा पौत्र राहुल प्रभृति स्नेहपात्रों को खोकर
से व्याकुल हो पड़े थे कि उनकी विकलता-देख बुद्ध का हृदय
ी द्रवीभूत हुआ। उन्होंने पिता से कहा—आज से मैं किसी
प्राप्तवयस्क (नाबालिग) बालक को उसके माँ-बाप या
भिभावक की अनुमति लिये बिना दीक्षित न करूँगा।

ऊपर लिखा जा चुका है कि कोशलवासी प्रसिद्ध धनी अनाथपिण्डद ने श्रावस्ती नगरी में एक विहार बनवा देने की इच्छा से सारिपुत्र को साथ ले राजगृह से कोशल की यात्रा की थी। वह श्रावस्ती नगरी में पहुँचकर विहार के उपयुक्त स्थान खोजने के लिए शहर के आसपास घूमने लगा। विविध वृक्षों से सुशोभित नदी के समीप एक रमणीय उद्यान पर उसकी दृष्टि पड़ी। कोशल देश के राजकुमार जेत उस बाग के स्वामी थे। अनाथपिण्डद ने मन में संकल्प किया—"इसी जगह साधुओं के रहने के लिए विहार बनवाना होगा।" उसने यथेष्ट मूल्य देकर राजकुमार से बाग पाने की प्रार्थना की। जेत ने इस प्रार्थना को स्वीकार न किया। परन्तु अनाथपिण्डद किसी तरह अपने संकल्प से न हटा। बागीचा लेने के लिए वह बार-बार आन्तरिक आग्रह प्रकट करने लगा। राजकुमार जेत ने सुयोग पाकर बाग का मूल्य बहुत अधिक माँगा। प्रचलित आख्यान में लिखा है कि उन्होंने कहा था—यदि तुम बगीचे की भूमि को मुहरों से ढाँक सको तो उसी मूल्य में बगीचा दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

राजकुमार की यह असम्भव माँग सुनकर भी अनाथपिण्डद ने पीछे पैर नहीं किया। उसकी आज्ञा से भाण्डार का द्वार खुला। पिता-पितामह की और उसकी निज-सञ्चित ढेर की ढेर स्वर्णमुद्राएँ गाड़ो पर लादकर बगीचे में लाई जाने लगीं। बगीचे का आधा हिस्सा सोने से आच्छादित होकर झका-

झक करने लगा। यह सवाद सुनकर राजकुमार के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होने तुरन्त घटना स्थल पर पहुँच कर अशरफियाँ बिछवाना रुकवा दिया। अनाथपिण्डद की उदारता ने उनके हृदय में शुभ बुद्धि का सञ्चार कर दिया। उन्होंने कहा—यह बाग आप ही का हुआ। किन्तु एक शर्त है। इसके चारों ओर जो आम और चन्दन के वृक्ष हैं वे मेरे अधिकार मे रहेंगे। मैं यह सब बुद्ध के चरणों मे अर्पित करके कृतार्थ होना चाहता हूँ।

इसके अनन्तर अनाथपिण्डद ने बहुत रुपया खर्च करके विहार बनवाया। राजकुमार जेत ने उस बाग का मूल्य नहीं लिया, उस द्रव्य से उन्होंने विहार के चारो तरफ चार अठ-मजिला मनोहर भवन बनवा दिये।

बौद्धसङ्घ को यह विहार दान करने के लिए अनाथपिण्डद ने बुद्ध को श्रावस्ती नगरी में बुला भेजा। वे राजगृह से पैदल ही श्रावस्ती गये थे। श्रावस्ती के समस्त बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष बडे ठाटबाट से आगे जाकर महापुरुष को अभ्यर्थनापूर्वक लिवा लाये। ध्वजा, पताका, वन्दनवार से विभूषित सुगन्ध से आमोदित विहार के भीतर बुद्ध ने प्रवेश किया। अनाथ-पिण्डद ने ससार के साधु सन्यासियो के रहने के लिए वह विहार यथाविधि बुद्ध के चरणो मे अर्पण किया। बुद्ध ने दान स्वीकार करके, सुधासिक्त कण्ठ से कहा—तुम्हारा सब अमङ्गल दूर हो, यह महादान धर्मराज्य की प्रतिष्ठा में अनुकूलता प्राप्त करे।

आठवाँ अध्याय

अन्तिम जीवन

बुढ़ापे के आक्रमण से महापुरुष बुद्धदेव का शरीर अब शिथिल हो चला। इतने दिन उन्होंने वङ्ग, मगध, कलिङ्ग, उत्कल, वाराणसी और कोशल आदि अनेक राज्यों में अपने सद्धर्म का प्रचार किया है, आर्य और अनार्य दोनों श्रेणियों के लोगों ने उनके श्रेष्ठ धर्म को स्वीकार किया है।

एक समय शरद ऋतु में जब बुद्धदेव गृध्रकूट पर्वत पर निवास करते थे तब बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु, वृज्जिवंशियों का विनाश करने के लिए, युद्ध की आयोजना करने लगे। महापुरुष बुद्ध के आने की खबर पाकर अजातशत्रु ने अपने मन्त्री वर्षकार से कहा—मन्त्रिवर, तुम जानते हो कि मैं वृज्जियों का मूलच्छेद करने के लिए तुमुल युद्ध की तैयारी कर रहा हूँ। महात्मा बुद्धदेव समीप ही गृध्रकूट पर्वत पर ठहरे हुए हैं। तुम मेरी ओर से कुशलप्रश्न करके उनको मेरा अभिप्राय सूचित करो। वे जो कुछ कहें वह ठीक-ठीक शब्दशः मुझसे आकर कहो। महापुरुष की वाणी कभी व्यर्थ नहीं हो सकती।

मन्त्री ने बुद्ध के समीप जाकर राजा का वक्तव्य कह सुनाया। बुद्ध ने अपने उपस्थायक आनन्द को सम्बोधन करके कहा—आनन्द, क्या तुमने नहीं सुना कि वृज्जिगण बार-बार साधारण सभा में सम्मिलित होते हैं ?

आनन्द—हाँ प्रभु, सुना है।

बुद्ध देव ने फिर कहा—"देखो आनन्द, इस प्रकार ऐक्य-बन्धन स्वीकार करके जब तक वृज्जिलोग साधारण सभा में सम्मिलित होते रहेंगे तब तक उनका पतन नहीं होगा, यथासम्भव उत्थान ही होगा। जब तक वे बड़े बूढ़ों का आदर करेंगे, स्त्रियों का सम्मान करेंगे, भक्तिपूर्वक धर्म का अनुष्ठान करेंगे, साधुओं की सेवा और रक्षा में तत्पर रहेंगे, तब तक उनका पतन न होगा, प्रत्युत वे उत्तरोत्तर उन्नति-लाभ करेंगे।" पश्चात् बुद्ध ने मन्त्री से कहा—मैं जब वैशाली में था तब मैंने स्वयं वृज्जियों को इन सामाजिक शुभ नियमों की शिक्षा दी थी। वे लोग जितने दिन इस उपदेश को स्मरण रखकर शुभ मार्ग पर चलेंगे उतने दिन उनकी अवश्य वृद्धि होगी।

मन्त्री के चले जाने पर राजगृह के भिक्षु लोग बुद्ध के समीप आये। बुद्ध ने उनको सम्बोधन करके कहा—भिक्षुओ, आज मैं तुम लोगों से सङ्घ की शुभ व्यवस्था पर कुछ कहूँगा। तुम लोग इस पर ध्यान दो,—जब तक तुम लोग उपस्थानशाला में एकमत होकर रहोगे, परस्पर सहानुभूति रक्खोगे, सब मिल कर धर्मोन्नति की चेष्टा करोगे, सभी मिल जुलकर अभ्युत्थान

की चेष्टा करोगे, और सङ्घ के सारे काम मिलकर करोगे, तब तक तुम्हारा पतन होने का नहीं, जब तक अच्छी तरह समझे हुए शुभकर्म्म के पालन मे सकुचित न होगे, बिना परीक्षा किये किसी नई विधि से काम न लोगे, जब तक तुम विद्वानों की श्रद्धा-भक्ति और सेवा करोगे और विनीत भाव से उनका आदेश मानकर चलोगे, तब तक तुम्हारा पतन नहीं हो सकता, जब तक तुम काम-लालसा से बचे रहोगे, जब तक तुम धर्म के अनुष्ठान से आनन्दित होगे, जब तक तुम्हारे पास साधुओ का समागम होता रहेगा और जब तक तुम आलस्य तथा अनुद्यम का त्याग करके मन को सदा सत्य की खोज में लगाये रहोगे तब तक तुम लोगों को गिरी दशा मे प्राप्त होने की आशङ्का न रहेगी। अतएव, हे भिक्षुओ, तुम अपने मन को विश्वास और विनय से विभूषित करो, पापाचरण से डरते रहो और ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपने मन को जाग्रत् रक्खो। तुम्हारा उत्साह अदम्य और चित्त आलस्य-रहित रहे। तुम लोगों को समाधि-सुख प्राप्त हो।

गृध्रकूट से चलकर बुद्ध अनेक स्थानों मे घूमते-फिरते हुए कुछ दिन तक नालन्द में आकर ठहरे। वहाँ से चलकर पाटलि-पुत्र (पटना) आये। शिष्यों के अनुरोध से वे यहाँ के विश्राम-भवन में कुछ दिन तक रहे। बुद्ध का उपदेश सुनने के लिए एक दिन वहाँ के उपासक लोग एकत्र हुए। उन सबसे बुद्ध ने मधुर कण्ठ से कहा—"प्रिय शिष्यो, धर्म मार्ग से भ्रष्ट होकर

अशुभ कर्म करनेवालो को पाँच प्रकार का पराभव प्राप्त होता है। एक तो बुरा काम करनेवाले का कोई विश्वास नहीं करता और शक्तिहीन हो जाने के कारण दारिद्र आकर उसे चारो ओर से घेर लेता है। दूसरे, उसका अपयश शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल जाता है। तीसरे, समाज में उसके लिए कोई जगह नहीं, कैसा ही समाज क्यों न हो, जनमण्डली मे ऐसे व्यक्ति को चोर की तरह मुँह छिपाकर चलना होता है। चौथे, मरणकाल में भी उसे शान्ति नहीं मिलती। अज्ञात भय और उद्वेग के साथ उसकी मृत्यु होती है। पाँचवे, मृत्यु होने पर भी उसका मन किसी तरह शान्तिलाभ नहीं कर सकता। पाप जनित दु ख और यातना उसके मन के साथ लगी रहती है।

"हे गृहस्थो, धर्ममार्ग पर चलनेवाले लोगों को पाँच प्रकार की जयप्राप्ति होती है। एक तो लोगों का उन पर विश्वास होने से वे सत्कर्म के द्वारा ऋद्धि प्राप्त करते हैं। दूसरे, उनका सुयश चारो ओर दूर-दूर तक फैल जाता है। तीसरे, समाज उनको आदर-पूर्वक उचित स्थान देता है। व्यवस्थित होने के कारण वे नि सकोच होकर सबके सामने सभा-समाज मे जाते है। चौथे, मरण काल में उन्हें किसी तरह का भय अथवा उद्वेग नहीं रहता। पाँचवें, मृत्यु के अनन्तर उनकी आत्मा को शान्ति मिलती है, क्योंकि उन्हें अपने सुकर्म्म के फल से कल्याण और आनन्द ही मिलता है।"

पाटलिपुत्र से बुद्ध कोटी गाँव गये और मार्ग में एक अन्य स्थान मे विश्राम कर वहाँ से वैशाली पहुँचे। यहाँ आम्रपाली नाम की एक वेश्या के बाग में वे शिष्यो के साथ ठहरे। आम्रपाली ने बड़े प्रसन्न मन से महापुरुष बुद्ध के समीप जाकर उन्हें दूसरे दिन अपने घर भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। साधारण लोगो की दृष्टि मे आम्रपाली पतिता प्रतीत होने पर भी महापुरुष के उदार हृदय में उसके प्रति घृणा उत्पन्न न हुई। उन्होने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। लिच्छवि-वशीय राजा लोग बुद्ध के आने की खबर पाकर बड़े आडम्बर के साथ उनसे मिलने आये। उन्होने भी अगले दिन बुद्ध को राजभवन में भोजन करने का निमन्त्रण दिया। बुद्ध ने उन्हे सूचना दी कि इसके पहले ही आम्रपाली का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया गया है। इस सवाद से क्षत्रिय लोग असन्तुष्ट हुए। उनका निमन्त्रण अस्वीकार करके बुद्ध एक पतिता स्त्री के घर भोजन करने जायँगे, यह सुनकर उन्हें विषाद हुआ। दूसरे दिन बुद्ध ने यथासमय शिष्यो के साथ आम्रपाली के घर जाकर भोजन किया। उनकी धर्मवाणी से पतिता स्त्री की बोधि जागृत हो गई। आम्रपाली के जीवन की गति कल्याण की ओर प्रधावित हुई। उसने अपना उद्यानभवन साधु सन्यासियों के लिए दान करके अपने को कृतार्थ माना।

बुद्ध की उम्र इस समय अस्सी वर्ष की थी। बुढापे के कारण उनका बलिष्ठ शरीर शिथिल हो गया था। उनकी

देह में मृत्यु के पूर्व लक्षण प्रकट हुए। उनके प्रवीण शिष्यों में कितने ही उस समय जीवन-मृत्यु के सन्धिस्थान में उपस्थित थे। इसी साल उनके अनुगत प्रधान शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की मृत्यु हुई। इनकी मृत्यु से सङ्घ बलहीन हो गया। सङ्घ के नये पुराने सभी भिक्षु नवीन उद्यम और साधना के द्वारा सङ्घ को बलशाली करने के लिए तैयार हुए। इसी वर्ष बुद्ध एक बार सांघातिक रोग से आक्रान्त हुए। किन्तु शय्यागत होने पर भी वे अनन्य सुलभ मानसिक बल-द्वारा रोग की यन्त्रणा चुपचाप सह लेते थे। इस समय वे वैशाली के एक विहार में रहते थे। आरोग्य लाभ करने के बाद आनन्द ने एक दिन उनसे एकान्त में कहा—प्रभु, व्याधि ने आपके शरीर की अपूर्व कान्ति हरण कर ली है। आपके उस कठिन रोग की याद आने से मैं इस समय भी चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा देखता हूँ। हाँ, मेरे मन में यह दृढ धारणा है कि आप सङ्घ की रक्षा का उपाय बिना बताये कदापि अपनी मानवलीला संवरण न करेंगे।

बुद्ध ने कहा—"आनन्द, सङ्घ अब मुझसे क्या आशा रखता है? मैं निष्कपट भाव से सबके सामने अपने उपलब्ध सत्य की व्याख्या कर चुका हूँ। मैंने कभी किसी से कोई बात छिपाई नहीं। मैंने कभी यह नहीं समझा कि मैं इस सङ्घ का परिचालक हूँ, किंवा सङ्घ मेरे अधीन है। यदि कोई ऐसा समझते हो तो वे नेता का आसन ग्रहण करके सङ्घ को

दृढ रूप से बाँधने की नियम-प्रणाली बनावें। सङ्घ की रक्षा के लिए मैं कोई विधि नियम बना जाने की इच्छा नहीं करता। आनन्द, मैं अस्सी बरस का बूढा हूँ। मेरी दीर्घयात्रा का समय समीप है। मेरा शरीर अब टूटे हुए रथ के समान हो गया है। बडी सावधानी के साथ किसी तरह बाँध-छूँध कर इसे चला रहा हूँ। मेरा मन जब बाहरी विषयो से सिमट कर गहरे ध्यान मे लीन होता है, तभी मेरा शरीर कुछ देर के लिए स्वस्थ रहता है।

"आनन्द, तुम लोग आप ही अपने अवलम्ब बनो, किसी दूसरे की सहायता की प्रत्याशा न करो। आप ही अपने लिए प्रदीप बनो। धर्म्म ही दीप है। उस दीप को मजबूत हाथ से पकडो, सत्य को सहायक बना मुक्तिमार्ग की खोज करो।

"आनन्द, यह मत समझो कि अपने लिए स्वय प्रदीप और अवलम्ब होना असम्भव है। सङ्घ के भिक्षु लोग यदि धर्मसाधना के द्वारा अपने अन्तर के निगूढ प्रदेश में रहने लगें तब तो वे दैहिक क्लेश, प्रवृत्ति की ताडना और तृष्णा से उत्पन्न सभी दु खों से बच सकेंगे।

"आनन्द, मेरी मृत्यु होने से भला सङ्घ का अनिष्ट क्यों होगा? बोधि प्राप्त करने के लिए जिनके चित्त मे कौतूहल है, जो लोग किसी प्रकार की बाहरी सहायता की आशा न रखकर अविचल अध्यवसाय से निर्वाण-प्राप्ति की चेष्टा करेंगे, उनको अवश्य श्रेय प्राप्त होगा।"

बुद्धदेव के परिनिर्वाण का समय समीप हो आया। वे मृत्यु को गले लगाने के लिए तैयार बैठे हैं। एक दिन उन्होंने बात ही बात मे आनन्द से कहा—"आनन्द, मेरी परिनिर्वाण-प्राप्ति का शुभ दिन निकट आ गया।" यह सुनकर आनन्द का हृदय शोक से विदीर्ण हो गया। उसकी आँखो मे आँसू उमड आये। उसको शोकाकुल देखकर बुद्ध ने गम्भीर स्वर में कहा—आनन्द, क्या तुम विश्वास को खो बैठे? क्या मैंने तुमसे यह बात बार-बार नहीं कही है कि लोगों का प्रिय-वस्तु से विच्छेद अनश्यम्भावी है? जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु होगी ही, यही ससार का नियम है। इसलिए कैसे हो सकता है कि मैं अजर-अमर होकर इस मर्त्यलोक में सदा बैठा रहूँ?

इसके बाद बुद्ध की आज्ञा के अनुसार आनन्द ने वैशाली के समीपवर्ती भिक्षुओं को वहाँ के विहार में एकत्र होने के लिए बुलाया। जब भिक्षु लोग आ गये तब बुद्धदेव ने उन सबों से कहा—"भिक्षुओ, मैंने तुम लोगों के समीप जिस धर्म का प्रचार किया है उस पर तुम लोग आरूढ होकर सत्य का साधन करो, मनन करो। इस सद्धर्म को चिरस्थायी बनाने के लिए इसका सर्वत्र प्रचार करो। समग्र मनुष्य-जाति को सुख और कल्याण देनेवाले इस धर्म को अनन्त काल तक रखने के उद्देश्य से जीवों के प्रति अप्रमेय प्रेम और दया करके तुम लोग इस धर्म का प्रचार करते रहो।

"ग्रह को शुभाशुभ का कारण जानना, और फलित ज्योतिष में विश्वास करना तथा हस्त-रेखा आदि देखकर भविष्य का शुभाशुभ फल कहना इत्यादि निषिद्ध किया जाता है।

"जो लोग अपने मन को रोकने के लिए संयमरूप लगाम को एकदम ढीला कर देते हैं वे कभी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते। तुम लोग मन को अपने वश में रखना, उसे भोग-विलास की उत्तेजना से दूर रखना और उसे शान्त तथा स्थिर करने के लिए यत्न करना।

"तुम लोग परिमित खान-पान करना और देह की आवश्यकताओं की पूर्ति संयम से करना। भ्रमर जिस तरह केवल फूल से अपने प्रयोजन के अनुसार मधु ले लेता है किन्तु फूल की सुगन्ध, शोभा तथा उसके पत्रों को नष्ट नहीं करता, उसी तरह तुम भी बिना किसी को सताये अपना जीवन निर्वाह करना।

"हे भिक्षुओ! हम लोग अब तक 'आर्यसत्य चतुष्टय' को नहीं जानते थे और हृदय से साधन नहीं कर सकते थे। इसी से जन्म-जन्मान्तर में असत्य मार्ग पर विचरण करते रहे हैं।

"मैंने तुम सबको जिस ध्यान और साधना की शिक्षा दी है, उसी ध्यान का तुम अभ्यास करो। पाप के विरुद्ध युद्ध करने को हमेशा तैयार रहो। धर्ममार्ग पर चलो और शीलवान् बनो। तुम्हारे हृदय में ज्ञान-दीप की ज्योति जागे। ज्ञान के प्रभाव से जब तुम्हारा हृदय प्रकाशमान् होगा तब तुम अष्टाङ्ग मार्ग का अवलम्बन कर निर्वाण प्राप्त कर सकोगे।

"मेरे परिनिर्वाणपद प्राप्त करने का दिन बहुत समीप है। मैं तुम लोगों से बड़ी दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि संयोग से उत्पन्न जितने पदार्थ हैं उनका नाश एक न एक दिन अवश्य होगा। जो अविनाशी है उसी की खोज करो। अध्यवसाय के द्वारा निर्वाणपद की प्राप्ति करो।"

आसन्न मृत्यु की शान्ति और गाम्भीर्य्य ने जब बुद्ध के मन को आच्छन्न कर लिया था, उसी शुभ मुहूर्त में उन्होंने अपने आविष्कृत धर्म का संक्षिप्त वर्णन शिष्यों के आगे किया था। इसी से वैशाली की उपस्थानशाला में दिये हुए उनके इस अन्तिम उपदेश में एक स्वाभाविक विशेषता है। दुर्भाग्य से उनके इस उपदेश का केवल एक अंश पाया गया है और वही महापरिनिर्वाण-सूत्र में वर्णित है। इस उपदेश में वे साधकों के लिए चार प्रकार के ध्यान, चार प्रकार की धर्म-प्रचेष्टा, चार ऋद्धिपाद, पाँच नैतिक बल, बोधि के सात अङ्ग और अष्टविध मार्ग निर्देश कर गये हैं।

वैशाली से बुद्ध शिष्यों के साथ कुशीनगर की ओर गये। रास्ते में उन्होंने भण्डग्राम, आम्रग्राम, जम्बूग्राम और भोग नगर आदि स्थानों में विश्राम किया था। महाप्रयाण के पहले उन्होंने अपने उदार धर्म-मत को शिष्यों के मन में दृढरूप से अङ्कित कर देने की चेष्टा की थी। बिना सोचे-समझे कोई उनका उपदेश ग्रहण कर ले, यह उनकी इच्छा न थी। उनके महाप्रस्थानित होने के अनन्तर कोई-कोई अपना मत

विश्राम करूँगा।" बुद्ध ने उस बिछौने पर लेटकर आनन्द को पानी लाने के लिए भेजा। वे पानी पीकर विश्राम करने लगे।

इसी समय पुक्कस नाम का एक मल्लजातीय युवा उसी रास्ते से कहीं जा रहा था। वह साधु आडारकालाम का शिष्य था। पेड के नीचे बैठे बुद्धदेव के प्रसन्न मुख की शोभा देखकर पुक्कस को विस्मय हुआ। उसने उन्हें प्रणाम करके विनयपूर्वक कहा—"प्रभो, गृहत्यागी साधुओं के ध्यान का प्रभाव बड़ा अपूर्व होता है! वे विचित्र मानसिक शान्ति-सुख का उपभोग करते हैं।" उसने अपने गुरु आडारकालाम की ध्यानशक्ति का महत्त्व जताने के लिए कहा—"एक बार जब गुरुजी ध्यान में लीन थे, तब उनके बहुत नजदीक से होकर धूल उडाती, घर्घर शब्द करती, पाँच सौ गाड़ियाँ चली गईं, उनके कपडे धूल से भर गये, किन्तु उन्हें कुछ खबर ही न हुई।"

पुक्कस की बात सुनकर बुद्ध ने उल्लसित होकर कहा—"पुक्कस, ध्यान की शक्ति वास्तव में बडी अद्भुत है। ध्यान के प्रभाव से मनुष्य मन के भीतर सम्पूर्ण रूप से सचेत रहकर भी बाहर का ज्ञान नहीं रखता। बाहरी कोई वस्तु उसे सुन या देख नहीं पड़ती। मैं एक बार ध्यान में निमग्न था, तब बड़े जोर-शोर से पानी बरस रहा था, बादल कडक रहा था, बिजली चमक रही थी, उस दुर्योग में उस स्थान के दो किसान और चार बैल मर गये। ध्यान मग्न रहने के कारण मुझे पता न था कि बाहर क्या हो रहा है। इसी से दुर्घटना का मुझे कुछ

हाल मालूम न हुआ। इसके बाद ध्यान टूटने पर एक स्थान मे बहुत लोगों को एकत्र देखकर मैंने किसी से पूछा—'यहाँ इतने लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं?' उसने आश्चर्य मानकर कहा—"अजी आप तो यहीं थे। क्या आपको मालूम नहीं कि इस वर्षा मे वज्रपात से दो किसान और चार बैल मर गये हैं?" "मैं कुछ नहीं जानता," यह सुनकर उसने और भी आश्चर्यान्वित होकर पूछा— "अगर आप पानी बरसने और मेघ गरजने का हाल नहीं जानते तो क्या आप गहरी नींद में सोये हुए थे?" मैंने कहा— "नहीं जी, मैं तो एकदम जागता था।" यह सुनकर वह दङ्ग हो रहा।

बुद्धदेव की ऐसी अन्य दुर्लभ ध्यान-शक्ति की बात सुनकर पुक्कस उनका शिष्य हो गया।

पुक्कस का इशारा पाकर एक व्यक्ति एक जोड़ा पीताम्बर लाया। पुक्कस ने ये कपड़े लेकर भगवान बुद्धदेव के समीप उपस्थित हो हाथ जोड़कर कहा—"प्रभु, आप ये दोनों वस्त्र ले लें तो मैं अपने को परम धन्य मानूँ।" बुद्ध ने कहा—"पुक्कस, तुम अपने हाथ से एक कपड़ा मुझे ओढ़ा दो और एक आनन्द को।" पुक्कस ने वैसा ही किया। बुद्ध ने उसको धर्मोपदेश देकर प्रसन्न किया।

इसके बाद भिक्षुओं को साथ ले बुद्ध फिर आगे बढ़े। वे सब कुकुत्था नाम की एक नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ नहा-धो

कर कुछ जलपान करके सबने थकावट दूर की। वहाँ एक आम्रवाटिका में विश्राम करते समय बुद्ध ने आनन्द को एकान्त में बुलाकर कहा—आनन्द, परिनिर्वाण-प्राप्ति का शुभ मुहूर्त आ गया। देखो, मेरी मृत्यु से शोकाभिभूत होकर लोग यह कह सकते हैं कि वहाँ भोजन करने से मेरा प्राण-वियोग हुआ है। इससे चुन्द को दुःख होगा। इसलिए तुम यह कहकर उसे सान्त्वना देना कि तथागत ने अन्तिम बार तुम्हारे ही यहाँ भोजन करके परिनिर्वाणपद प्राप्त किया है, यह तुम्हारे लिए परम कल्याण और परम लाभ है। मैंने उन्हीं के मुँह से सुना है कि जीवनकाल में उन्होंने दो ही बार महत् भोज्य पदार्थों का दान ग्रहण किया था। इन दोनों भोज्य पदार्थों को उन्होंने तुल्य-फलप्रद और तुल्य-कल्याणकारक समझा। एक दिन सुजाता के हाथ का महामूल्य पायस भोजन करने से उन्हें बोधि प्राप्ति हुई थी और एक दिन तुम्हारे हाथ का अन्तिम आहार करके उन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

आम्रवाटिका में थोड़ी देर विश्राम करके बुद्ध ने आनन्द से कहा—"आनन्द, चलो हम लोग कुशीनगर के समीपवर्ती शालवन में जायँ।" यथासमय बुद्धदेव भिक्षुओं के साथ मल्लजाति के शालवन में उपस्थित हुए। उनकी आज्ञा के अनुसार आनन्द ने पल्लवित दो साखुओं के बीच में एक ऊँचा मचान बनाकर उस पर सेज बिछाई। उस शय्या पर उत्तर ओर सिरहाना करके बुद्ध लेट गये। उन्होंने आनन्द से

गम्भीर स्वर में कहा—आज रात के पिछले पहर मुझे परि-निर्वाण-प्राप्ति होगी। तुम कुशीनगर के मल्लों को इसकी सूचना अभी दे दो।

इसी समय सुभद्र नामक एक जिज्ञासु परिव्राजक कुशीनगर में रहते थे। बुद्धदेव के आने और उनके महानिर्वाण-लाभ का समय सन्निहित होने की खबर पाकर उन्होंने बड़ी उत्सुकता के साथ धर्मविषयक कुछ प्रश्नों के सन्देह-निवारणार्थ उनसे भेंट करनी चाही। शालवन में आकर सुभद्र ने बुद्ध के समीप जाने की कोशिश की। आनन्द ने उनको रोककर कहा—"महात्मन्, बुद्ध इस समय बहुत ही थके हुए हैं, आप अभी उनको मत सताइए।" किन्तु सुभद्र का अभिप्राय जान कर बुद्ध ने कहा—आनन्द, सुभद्र को मत रोको, उसको यहाँ आने दो।

सुभद्र ने बुद्ध के पास पहुँचकर उनके आगे हुए अनेक विरुद्ध-धर्ममत सूचित किये और अपने मन का संशय प्रकट किया। बुद्ध ने कहा—"सुभद्र, तुम्हारे प्रश्नों की मीमांसा करने का समय नहीं रहा। मैं तुमको केवल सत्य का उपदेश देता हूँ। तुम जी लगाकर सुनो—

"जिस धर्म में सम्यक् दृष्टि नहीं, सम्यक् सङ्कल्प नहीं, सम्यक् वाणी नहीं, सम्यक् कर्मान्त नहीं, सम्यक् आजीव नहीं, सम्यक् व्यायाम नहीं, सम्यक् स्मृति और समाधि नहीं, उस धर्म के उपासकों में श्रमण नहीं रह सकते। इस अष्टाङ्ग धर्ममार्ग

बुद्ध की सार्वभौमिकता

सारा ससार महापुरुष मानकर जिनकी वन्दना किया करता है, उनके जीवन और उपदेश का अवलम्बन करके छोटे-बड़े सम्प्रदाय बन जाने पर भी वे साम्प्रदायिक सकीर्णता के बहुत ऊपर रहते हैं। ज्ञान में, विज्ञान मे, भाषा मे, आचार-विचार में, रङ्ग में, गुण में, मनुष्य-मनुष्य मे भेद पाया जाता है और यह भेद चिरकाल तक रहेगा। ये सब भेद-विभेद रहते हुए भी मनुष्य का हृदय देश-देशान्तर के मनुष्यो के साथ अपनी एकता के अनुभव के लिए तडफडाता रहता है। साधारणत जिस समाज में मनुष्य जन्म लेता है उस समाज का उस व्यक्ति के मन पर विशेष प्रभाव पडता है। देशाचार, लोकाचार और वंश-गौरव इत्यादि नाना प्रकार के कृत्रिम व्यवधान धर्म का नाम धारण करके उसकी शुभ बुद्धि पर पर्दा डाले रहते हैं। इस प्रकार एक-एक समाज या सम्प्रदाय सैकडो नरनारियों को अपने-अपने कल्पित कोठ के भीतर बन्द कर रखते हैं। अपनी चिर-अभ्यस्त सुपरिचित सीमा के भीतर रहते-रहते लोगो की बुद्धि ऐसी जड हो जाती



बुद्ध (उपदेष्टा)

बुद्ध की सार्वभौमिकता

सारा संसार महापुरुष मानकर जिनकी वन्दना किया करता है, उनके जीवन और उपदेश का अवलम्बन करके छोटे-बड़े सम्प्रदाय बन जाने पर भी वे साम्प्रदायिक संकीर्णता के बहुत ऊपर रहते हैं। ज्ञान में, विज्ञान में, भाषा में, आचार-विचार में, रङ्ग में, गुण में, मनुष्य-मनुष्य में भेद पाया जाता है और यह भेद चिरकाल तक रहेगा। ये सब भेद-विभेद रहते हुए भी मनुष्य का हृदय देश-दशान्तर के मनुष्यों के साथ अपनी एकता के अनुभव के लिए तड़फड़ाता रहता है। साधारणत जिस समाज में मनुष्य जन्म लेता है उस समाज का उस व्यक्ति के मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। देशाचार, लोकाचार और वंश-गौरव इत्यादि नाना प्रकार के कृत्रिम व्यवधान धर्म का नाम धारण करके उसकी शुभ बुद्धि पर पर्दा डाले रहते हैं। इस प्रकार एक-एक समाज या सम्प्रदाय सैकड़ों नरनारियों को अपने-अपने कल्पित कोट के भीतर बन्द कर रखते हैं। अपनी चिर-अभ्यस्त सुपरिचित सीमा के भीतर रहते-रहते लोगों की बुद्धि ऐसी जड़ हो जाती

है कि वे सीमा के भीतर रहना ही अच्छा समझते हैं, उस से निकलकर बाहरी दृश्य के साथ योग-साधन के लिए कुछ उत्साह नहीं दिखलाते। देखा जाता है कि प्रत्येक समाज या सम्प्रदाय में एक-आध ऐसा प्रतिभाशाली महात्मा उत्पन्न हो जाता है, जिसकी शुभ बुद्धि सम्प्रदाय के संकीर्ण व्यवहार को स्वीकार नहीं करती। वह साम्प्रदायिक सीमा पार करके एक ऐसे उदार राजमार्ग पर जाकर मनुष्य को बुलाता है कि वहाँ आकर उसके साथ सम्मिलित होने में, किसी देश का, किसी समय का, मनुष्य संकोच नहीं करता।

कोई ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् बुद्धदेव ने मुक्ति के एक ऐसे ही उदार राजमार्ग पर संसार के सब मनुष्यों को बुलाया था, वहाँ एकत्र होने में किसी के मन में कुछ रुकावट नहीं हो सकती। उन्होंने अपने अनुगामी शिष्यों से कहा है—गङ्गा-यमुना प्रभृति बड़ी बड़ी नदियाँ अनेक दिग्देशों से उत्पन्न होकर भी जैसे समुद्र में मिलकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता और नाम खो देती हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सब जातियों के मनुष्य सत्य धर्म ग्रहण करते ही अपनी जाति और गोत्र खोकर एक हो जाते हैं। नाई उपालि हीन जाति होने पर भी महापुरुष बुद्ध का दहना हाथ हो गया। नये धर्म के प्रभाव से वह शूद्र न रहा, वह परम-साधु, अर्हन् और सत्य धर्म का व्याख्याता होकर अत्यन्त सम्मानित हुआ।

बुद्ध की गाथों एक समय भारत के पतित समाज के कान में अभय मन्त्र फूँक चुकी है और उनके प्रचारित नये धर्म ने उन सबों को आश्रय दिया था। शेर-गाथा में एक थेर ने अपने मुँह से अपना जीवन-वृत्तान्त इस प्रकार कहा है—मेरा जन्म नीच कुल में हुआ था, मैं अत्यन्त दरिद्र था। मेरा पेशा भी बुरा था। लोग मेरा अपमान करते थे। मैं सिर झुका कर सबका सम्मान करता था। इसके बाद मैंने महानगरी मगध में भिक्षुओं के साथ महापुरुष बुद्धदेव का दर्शन किया। उनका दर्शन पाते ही मेरा चित्त भक्ति से झुक गया। मैंने सिर का बोझ फेंककर उनके श्रीचरण-कमलों में आत्म समर्पण किया। जब उन लोकमान्य ने मुझ पर दया की तब मैंने उनका अनुचर शिष्य होना चाहा। करुणामय प्रभु ने तुरन्त मुझे शरण देकर कहा—आओ साधु, मेरे साथ आओ।

बुद्ध का जीवन वृत्तान्त पढने से ज्ञात होता है कि उन्होंने बेधड़क होकर भ्रष्टाचारिणी आम्रपाली वेश्या के घर भोजन किया था। उनके इस व्यवहार का तात्पर्य न समझकर लिच्छवि-राजाओं ने असन्तोष प्रकट किया था, परन्तु बुद्धदेव ने कुछ परवा नहीं की। महापुरुष की करुणा के विशद किरण-जाल से पतिता स्त्री का चित्त पल भर में शतदल कमल की भाति खिल गया था और उसके मनोहर सुगन्ध ने बौद्ध-समाज को विस्मित कर दिया था।

सभी मनुष्यों के माननीय महागुरु बुद्धदेव अनर्थकारी जाति-भेद, धन-गौरव, उच्चपद के महत्त्व आदि को तुच्छ समझते थे इसी से छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र, आर्य-अनार्य सभी के मन में उनका उपदेश बेरोक प्रवेश करता था। उनका उपदेश सर्वप्रिय तथा सर्वमान्य था इस कारण सबके पहले भारत की पतित जाति ने उसे ग्रहण किया था।

बुद्धदेव ब्राह्मण और श्रमण को बराबर सम्मान का पात्र समझते थे। किन्तु वे ब्राह्मण किसे मानते थे? धम्मपद में लिखा है—

"जो स्थिर-बुद्धि, मेधावी हैं, सत्य-असत्य का निर्णय करने में पण्डित हैं, उन उत्तमपद निर्वाण-प्राप्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो अपने दुःख का नाश हुआ जानकर इसी संसार में निष्काम और बन्धन-मुक्त होकर रहते हैं उन्हीं को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो शत्रुओं के साथ मित्र-भाव रखते हैं, दण्ड देनेवालों के प्रति संतोष प्रकट करते हैं और संसारी विषयों के बीच अनासक्त रहते हैं उनको मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"

महापुरुष बुद्ध के मत से, किसी बाह्य कारण से किंवा आकस्मिक जन्म होने से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता।

धम्मपद में लिखा है—जटा धारण करने से, या जाति-गोत्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। किन्तु जो धर्म और सत्य में प्रतिष्ठित हैं वही पवित्र और ब्राह्मण हैं।

अतएव यह बात माननी ही होगी कि भगवान् बुद्धदेव वंशानुगत जाति-भेद को नहीं मानते थे।

"वृषलसूत्र" में बुद्ध ने अपना यह आशय अत्यन्त स्पष्ट भाषा में अग्नि-भरद्वाज के आगे प्रकट किया है। उन्होंने कहा है—जन्म के कारण कोई ब्राह्मण या चाण्डाल नहीं होता, कर्म्म से ही ब्राह्मण या चाण्डाल होता है। उक्त सूत्र में उन्होंने चाण्डाल के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं —

"जो पापाचारी, कपटी, क्रोधी और हिंसक है, जिसने असत्य दर्शन को आश्रय दे रक्खा है, जो मायावी है और जो सर्वदा लोगों को ठगता है, वही चाण्डाल है।

"जो अपने हाथ से पशु-पक्षी आदि जीवों की हत्या करता है और जो निर्दय है, वही चाण्डाल है।

"जो बिना कारण दूसरे को सताता है, जो दूसरे का धन हरण करता है, जो ऋण लेकर पीछे अस्वीकार करता है, जो द्रव्य के लोभ से दूसरे का प्राण नाश करता है, और जो व्यभिचार करता है वही चाण्डाल है।

"जो अपने बूढ़े माँ-बाप की सेवा नहीं करता और कटु-वचन कहकर अपने बन्धुवर्ग का जी दुखाता है वही चाण्डाल है।

"लोग तो आवें भली सलाह लेने और जो उन्हें दे बुरी सलाह, तथा सत्य छिपाकर जो झूठ बोले वही बढ़कर चाण्डाल है।

"जो अहंकार में चूर होकर अपनी प्रशंसा आप करता है, जो दूसरे को देखकर घिनाता और दूसरे की निन्दा करता है वही चाण्डाल है।"

बुद्धदेव ने दृष्टान्त द्वारा व्याख्या की है कि साधुशील श्वपच (चाण्डाल) भी इस लोक और परलोक में कैसे सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। उन्होंने कहा है—एक चाण्डाल का लड़का, जिसका नाम मातङ्ग था, काम-क्रोध आदि त्यागकर परमसाधु हो गया था। उसका अनन्य-सुलभ यश सर्वत्र फैलने से झुंड के झुंड ब्राह्मण-क्षत्रिय आकर उसे शीश नवाते थे। मृत्यु के अनन्तर वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुआ। ब्राह्मण के कुल में जन्म लेने ही से कुछ नहीं होता। एक ब्राह्मण अध्यापक का बेटा वेदमन्त्र की शिक्षा पाकर भी पाप किया करता था। उसे इस लोक में शान्ति नहीं मिली, परलोक में उसने नरक का भोग किया। इस अधःपतन से उसे न तो 'कुल' बचा सका और न वेदज्ञान ही किसी काम आया।

बुद्धदेव के ज्ञान-पूर्ण सरल उपदेश अग्नि-भरद्वाज के हृदय में भिद गये। जाति-गोत्र का अभिमान छोड़कर वे उनके शिष्य हो गये।

पतित समझकर समाज जिनकी उपेक्षा करता था, उनकी, पतित समझ कर, बुद्धदेव ने कभी उपेक्षा नहीं की। सभी के समझने योग्य बोल-चाल की भाषा में सरल आख्यान द्वारा वे निर्वाण का मार्ग दिखा गये हैं। उन्होंने पतित का

उद्धार किया, भूले-भटके को मार्ग दिखलाया और अँधेरे में भटक रहे आँखवालों के सामने करुणा की रसधारा से भरा प्रज्वलित ज्ञान का दीप रख दिया।

बौद्धधर्म के इतिहास से मालूम होता है कि, आविष्कृत होते ही इस धर्म का प्रचार अनार्य-प्रधान मगध देश में अपेक्षाकृत बहुसंख्यक लोगों में हुआ था। ईसा-मसीह के पहले तीसरी शताब्दी में जब इस अनार्य-प्रधान मगध की राजश्री के सम्मुख समस्त भारत सिर नवाये था तभी राजशक्ति की पृष्ठ-पोषकता से बौद्धधर्म सारे भारत का धर्म हो गया था।

महापुरुष बुद्ध का चित्त यदि किसी कृत्रिम बाधा को कबूल कर लेता तो यह धर्म पतितों को कदापि नवीन जीवन दान करने में समर्थ न होता और नदी, पहाड़, समुद्र आदि स्वाभाविक बाधाओं को लाँघ कर नाना भाषाभाषी मनुष्यों के विचित्र समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सकता। बौद्ध धर्म ने भूमण्डल के एक प्रधान धर्म में परिणत होकर अपनी सर्वोत्कृष्ट उदारता का ही परिचय दिया है। बुद्ध के उपदेश ने एक समय भारत में अमृत का छिड़काव करके अत्यन्त अद्भुत साहित्य, विज्ञान, शिल्प आदि की सृष्टि की थी। भारत के इस अतीत युग के सभ्यता-भाण्डार से इस समय भी सब देशों के विद्वान् लोग नये-नये रत्न प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। बुद्धदेव ने जो दान किया है उसे सार्वभौम जानकर संसार ने ग्रहण किया है और आगे भी करता रहेगा।

बुद्ध का आह्वान

आध्यात्मिक उन्नति की सीमा निर्दिष्ट करने का कोई उपाय नहीं है। जो उसकी चरम अवस्था है वह आप ही किसी समय मनुष्य के निकट प्रकाशित हो जाती है। अथवा उस अनिर्वचनीयता के बीच साधना के अन्त में साधक एक दिन आप ही उपस्थित हो जाता है। मनुष्य की वाणी में इतना सामर्थ्य नहीं कि उसके स्वरूप का यथावत् वर्णन कर सके। साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त करके जो लोग इस अनिर्वचनीय लोक में जा पहुँचते हैं वे इस मार्ग का पता दूसरे को बता सकते हैं सही, किन्तु उस अनिर्वचनीय परमानन्द की चरम सीमा को कोई भाषा द्वारा कैसे निर्दिष्ट कर सकता है? बुद्ध का कथन है, साधक स्वय स्वावलम्बनपूर्वक अपने उद्योग से सम्पूर्ण मार्गों का अतिक्रम कर यात्रा के अन्तिम स्थान में पहुँच जायँगे इसलिए वे उच्च स्वर से कहते हैं—"तुम आप ही अपने ऊपर निर्भर होकर साधन करो, दूसरे किसी का कुछ भरोसा मत करो।" वे मनुष्य को अनिर्वचनीय रहस्य की बात न बतलाकर बडी निर्भीकता के साथ पुकारकर जो कहते हैं उसका मर्म यही है—

तुम लोगों को अमङ्गल [illegible]
तुम लोगों को रोग, शोक, [illegible]
शान्ति-सुख में आना होगा। [illegible]
तुम मेरे पास चले आओ, मैं तुम्हें [illegible]
दिखा दूँगा। उस मार्ग का [illegible]

महापुरुष बुद्ध ने अपने [illegible]
सरलता के साथ बेधड़क कह [illegible]
मनुष्य की समझ में आ गया है। [illegible]
मत के द्वारा जाना जाता है, जिसका [illegible]
हो सकती, उसके सम्बन्ध में [illegible]
उन्होंने सब मनुष्यों को पुकारकर [illegible]
त्याग कर जागो, सावधान बनो, [illegible]
दुःख-शोक के बाण से जिनका हृदय [illegible]
में अचेत पड़ा रहना क्या शोभा [illegible]
होकर शान्ति पाने के लिए आलस्य [illegible]
लम्बन करो, तुमको उन्मत्त देखकर [illegible] क
हैं, खबरदार हो जाओ, वे तुमको [illegible] वा
अधिकार में न ले जायँ। नहीं

तुम शुभमुहूर्त को हाथ से मत [illegible]
मनुष्य तक जिस वासना के अधीन है [illegible] रीर
लो सुयोग गँवा देने से नरकगामी [illegible]
जरूर पछताना पड़ेगा।

प्रमाद ही पाप का मूल है, अतएव प्रमाद-रहित हो ज्ञान का आश्रय ग्रहण करके कामना का बाण हृदय से निकाल कर फेंक दो।

बुद्ध के वाक्य कैसे सरल और हृदयस्पर्शी हैं! उन्होंने मनुष्यों के निकट धर्म प्रचार करने आकर बड़ी दृढ़ता से कहा है—मैं तुमको जिस धर्म की राह पर बुला रहा हूँ वह मङ्गल है, निर्दोष है और ज्ञानियों के लिए प्रशस्त है। उस धर्म का आचरण करने से तुमको सुख और कल्याण मिलेगा। आओ, प्यारे भाइयो, तुम मेरे पास आओ, मैं तुमको कोई पुरानी बात न कहूँगा, मैं तुमसे कोई दुर्ज्ञेय रहस्य की बात न कहूँगा, दूसरे की बात पर विश्वास करने के लिए मैं तुमसे न कहूँगा, मैं तुमसे जो कुछ कहूँगा वह तुम अपनी आँख से देख लेना, उसे बुद्धिपूर्वक विचारकर ग्रहण करना, इसका सुफल तुम शीघ्र ही देख लेना, मैं जो कहूँगा सब स्पष्ट और प्रत्यक्ष कहूँगा।

जो लोग बुद्ध की वाणी पढ़ेंगे वे इसकी असाधारण सरलता, तेजस्विता और सुयुक्ति पर बिना विस्मित हुए न रहेंगे। सूर्य की किरण जैसे धरती के सब पदार्थों को प्रकाशित कर देती है वैसे ही महापुरुष बुद्ध की स्थिरप्रज्ञा की निर्मल ज्योति ने मनुष्य के साधन-मार्ग को ओर से छोर तक प्रकाशित कर दिया है।

शास्त्र की विधि और लोकाचार के आगे अपनी बुद्धि और युक्ति का बलिदान करके मनुष्य जिस सहज सत्य को भूले हुए थे, उसी सत्य को बुद्धदेव के निर्मल ज्ञान ने प्रत्यक्ष कर

दिया है। इसलिए उन्होंने दार्शनिकता और पाण्डित्य की ओर न जाकर सबके समझने योग्य उपयुक्त भाषा में अपने सुखद कल्याणकारी धर्ममत की व्याख्या की है। उन्होंने वेद, वेदान्त और तर्कशास्त्र का आश्रय छोड़कर सर्वसाधारण की जैसी बुद्धि, साधारण युक्ति और देश-भाषा की शरण ली है। बुद्ध ने जो कुछ कहा वह नितान्त सरल और उपयोगी था, इसी से मनुष्य का अन्तःकरण, बुद्धि और विचारशक्ति निःसंकोच भाव से उस पर टूट पड़ी। इसी से उनका प्रचारित धर्ममत सारी विघ्न-बाधाओं को हटाकर थोड़े ही दिनों में समूचे एशियाखण्ड में फैल गया।

बुद्ध ने मनुष्य को कोई व्यर्थ आशा न देकर साफ-साफ कह दिया था—"तुम्हहि किच्च आतप्पम्" अर्थात् तुम्हीं को उद्यम के साथ शुभाचरण करना होगा, तुम्हीं को आष्टाङ्गिक साधुमार्ग से होकर चलना होगा, तुम्हीं को ध्यान-परायण होकर मुक्ति प्राप्त करनी होगी, मैं तो केवल रास्ता दिखला सकता हूँ। तुमको सावधान रहना होगा, आलसी होने से काम न चलेगा। तुम अपने चित्त और संकल्प को जागरूक रक्खो, क्योंकि "कुसीदपञ्ञाय मग्ग अलसो न विन्दति" अर्थात् निर्वीर्य और आलसी मनुष्य ज्ञान का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता।

बुद्ध ने कहा है—तुम वचन और मन को रोक रहो, शरीर से कोई पाप न करो। इस प्रकार संयत होने से तन, मन

और वचन से पवित्र होकर तुम धर्म-मार्ग में विचरण कर सकोगे। पापवासना से तुम अपने चित्त को छुड़ाओ। पानी की बाढ़ जिस तरह असावधान गाँव को बहा कर ले जाती है, उसी तरह पाप-प्रमत्त व्यक्ति पर मौत अपना अधिकार जमा लेती है।

हे निर्वाण की अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य, धर्म को तुम अपने विचरने के लिए प्रमोद-कानन बनाओ, धर्म ही को आनन्द समझो धर्म में तुम्हारी अभिरुचि होनी चाहिए, धर्म ही तुम्हारा ज्ञातव्य विषय हो, ऐसा कोई झगड़ा मत करो, जिससे धर्म मे व्याघात पहुँचे और तुम्हारा समय सुन्दर भाषण और सत्य की आलोचना में व्यतीत हो।

हे निर्वाणपथ के पथिक, तुम स्थिरबुद्धि सदाचारी साधु-पण्डित की संगति करो। चतुर नाविक जिस तरह डाँड-युक्त नाव पर बहुत से मनुष्यों को बिठा कर, अपने जाने हुए मार्ग से, नियत स्थान में पहुँचा सकता है, वैसे ही ज्ञानवान् साधु पुरुष तुमको अनायास अपने ज्ञात धर्म और कल्याण का मार्ग दिखा सकते हैं।

चित्त को सन्तुष्ट रखना, शील का पालन और इन्द्रियों का संयम करना तुम अपना कर्तव्य समझो।

शील-पालन करने से तुम्हारी बुद्धि की चञ्चलता दूर होगी, इससे तुम सुखी होगे और तुम्हारा दुःख दूर होगा। फूल के पेड़ में नये फूल खिलने से जैसे मुरझाये हुए फूल अपने आप झड़

पड़ते हैं वैसे ही तुम्हारा हृदय पुण्य और पवित्रता से विभूषित होने पर पुरातन काम-वासना अपने आप दूर हो जायगी। ज्ञानपूर्वक शील की रक्षा करके तुम अपने मन को अपने वश में करो। जब मन पर तुम्हारा अधिकार हो जायगा तब तुम्हें परमानन्द प्राप्त होगा। अष्टाङ्गिक मार्ग को सभी मार्गों में श्रेष्ठ और चार आर्य-सत्यों को सब सत्यों में प्रधान जानना। प्रसन्न मन से इन उपदेशों का पालन करो और किसी से शत्रुता न करके सबके साथ मैत्री-भाव रक्खो, इससे तुम शीघ्र ही सुख-प्रद निर्वाण प्राप्त कर सकोगे।

बौद्धनीति

जो साधक श्रेय प्राप्त करना चाहे उनको आलस्य-रहित हो कर भीतर-बाहर से पवित्र रहना चाहिए। पवित्रता ही साधना की प्रधान और प्रथम सीढ़ी है। इसी के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन और शील का धारण विधेय है। बिना आध्यात्मिक नेत्र खुले सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। इसी लिए साधक बड़े यत्न से मन को विशुद्ध रखते हैं। वे जानते हैं कि जब उनका मन स्वच्छ और स्थिर होगा तभी उन्हें सत्य की झलक देख पड़ेगी।

कछुआ जिस तरह अनायास अपने अङ्ग को छिपाये रहता है उसी तरह साधक अभ्यास के द्वारा अपने मन को सब पापों से बचाने का यत्न किया करता है। जो अपने मन को अपने अधीन नहीं कर सकता वह न ध्यान कर सकता है न उपासना, उसे सुख या शान्ति कुछ नहीं मिलता। मन के गुप्त स्थान में जो पाप की वासनाएँ सञ्चित होती हैं वे पण्डित के मन को भी चञ्चल कर देती हैं। इसलिए पाप को पाप समझने ही से हम उसके हाथ से छुटकारा नहीं पा सकते।

अथवा बाहरी व्यवहार से भलेमानस होने पर भी हम साधना के मार्ग में अग्रसर होने की आशा नहीं कर सकते। इसी लिए धम्मपद में कहा है—

आकासे च पद नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।

आकाश में जैसे मार्ग नहीं है वैसे बाहरी कर्म्म से मनुष्य श्रमण अर्थात् साधु नहीं हो सकता। / बाहर से हाथ-पैर आदि कर्म्मेन्द्रियों को रोक रखने पर भी यदि हम मन ही मन पाप का चिन्तन करेंगे तो किस तरह सत्यप्राप्ति की आशा कर सकते हैं? सत्य कहो, धर्म कहो, सब मन का ही व्यापार है। धम्मपद में लिखा है—धर्म मन से ही उत्पन्न होता है। हमे अपने वचन और कार्य को मन की पवित्रता द्वारा परिष्कृत करना चाहिए।

मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपायिनी॥

यदि कोई शुद्ध मन से बात बोले या काम करे तो सुख उसके पीछे छाया की भाँति घूमा करेगा।

अन्य पक्ष मे और भी कहा गया है—

मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्क व वहतो पदम्॥

यदि कोई अशुद्ध मन से वचन कहे या काम करे तो (गाड़ी का) पहिया जिस तरह बैल के पीछे पीछे घूमता है उसी तरह दुःख भी उसके पीछे घूमता है।

जो सुखार्थी हैं, जो धर्मार्थी हैं उन्हे—जैसे भी-हो—मन को अपने वश मे रखना होगा और हृदय को सब प्रकार के पापों से बचाकर शुद्ध और तेजस्वी करना होगा। इसी लिए बुद्धदेव ने विश्वासियो को शील (सच्चरित्रता) ग्रहण करने का आदेश दिया है। बौद्ध धर्म में शील ही निर्वाण का प्रथम साधन है। शील ही चरित्र को बलिष्ठ और सगठित करता है। इसलिए साधना के मार्ग में अग्रसर होने का राहखर्च 'शील' ही है। "सुख याव जरा सीलम्"—जीवन पर्यन्त शील का पालन श्रेयस्कर है।

बौद्धों के "शीलों" की आलोचना करने से हमें उनमें बुद्धदेव की अद्भुत प्रतिभा देख पडती है। नीतिशास्त्र का जो भाग मनुष्य के बाह्य आचार-व्यवहार को नियमित करता है उस भाग की उपेक्षा बुद्ध के प्रवर्त्तित शील नहीं करते, और नीतिशास्त्र का जो भाग मनुष्य के मन को शुभ मार्ग की ओर ले जाता है उसी भाग पर उन्होंने तीव्र दृष्टि रक्खी है। ऐहिक या पारलौकिक सुख की इच्छा से किये जानेवाले यज्ञ आदि को बुद्धदेव ने एकदम निष्फल कहा है। इन्द्रिय-विजय और चरित्र-सशोधन करके दया-दाक्षिण्य-मैत्रीमूलक कल्याण-व्रत-साधन को ही उन्होंने आनन्द-प्राप्ति का एक-मात्र मार्ग बतलाया है। सुपरिचालित मन के द्वारा ही हम लोग कल्याण प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं, बाहरी अनुष्ठान के द्वारा नहीं। इसी कारण बुद्धदेव ने कहा है—

न त माता पिता कयिरा अञ्ञे वापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो न ततो करे॥

सम्यक् परिचालित चित्त मनुष्य का जैसा कल्याण करता है वैसा माँ बाप या अन्य कोई आत्मीय नहीं कर सकता।

विश्वासी पुरुष के आचरण, कार्य और भावना को बौद्धनीति सुखद और कल्याण-प्रद बना देती है। बौद्ध साधु कदापि निश्चेष्ट नहीं रहेंगे। वे समग्र मनुष्य-जाति के कल्याण साधन में लगे रहेंगे। बौद्ध साधु अपने मन को कभी अरक्षित नहीं रक्खेंगे, शुभ भावना से वे अपने चित्त को बराबर आच्छादित रक्खेंगे। बुद्ध कहते हैं—

यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति॥

जैसे भली भाँति छाये हुए घर के भीतर वर्षा का जल नहीं पहुँच सकता, वैसे ही सुभावित चित्त को भेद करके सहसा पाप प्रवेश नहीं कर सकता।

बौद्धनीति मनुष्य को पाप से निवृत्त करके केवल कल्याण-मार्ग दिखाकर ही नहीं रह जाती, वह तो मनुष्य को सावधान होकर धर्मसाधन करने को कहती है। बुद्ध कहते हैं—

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करतो पुञ्ञं पापस्मिं रमती मनो॥

कल्याण प्राप्ति के लिए तुम शीघ्रता के साथ आगे बढ़ो, पाप से मन को रोको। आलस्य के साथ पुण्य कर्म करने से मन पाप में रत होता है।

बाहरी क्रिया-कलाप की उपकारिता पर बुद्धदेव को विश्वास नहीं था। अश्रद्धा से किये हुए प्राण-हीन पुण्य-कर्म को भी वे अशुभकारी समझते थे। जब तक हम लोग अनुरागपूर्वक पुण्यकर्म्म न करेंगे तब तक वे हमारे लिए सुख-प्रद, कल्याणकारी नहीं होते। इसी लिए बार-बार श्रद्धापूर्वक पुण्य-कार्य करना चाहिए। उसी से पुण्य कर्म के अनुष्ठान के प्रति हमारे हृदय में सच्चा अनुराग उत्पन्न होता है। बुद्ध कहते हैं—

पुञ्ञचे अभे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनम्।
तम्हि छन्द कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो॥

यदि कोई व्यक्ति पुण्य कर्म करे तो बारबार करता रहे जिससे उसमें उसका अनुराग उत्पन्न हो जाय, क्योंकि पुण्य का सञ्चय सुखकारी होता है।

पुण्य का अनुष्ठान हमको सहज ही कर लेना चाहिए, कर्त्तव्यज्ञान से किंवा लोगों के अनुरोध से नहीं। अपने मन के उल्लास से हम लोगों को पुण्य का आचरण करना होगा। पत्ती जिस तरह मन की उमङ्ग से गाता है, फूल जिस तरह आप ही खिल उठता है, उसी तरह आनन्द से सहजभाव से हम लोगों को कल्याण-व्रत में नियुक्त होना चाहिए। अभ्यास के द्वारा जब पुण्यकर्म इस प्रकार सहज हो जायगा तभी वह मङ्गलमय हो उठेगा। बुद्ध कहते हैं—

भद्रोपि पस्सति पाप याव भद्र न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्र अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥

पुण्यकर्म्म जब तक परिपाक को प्राप्त नहीं होता तब तक साधु पुरुष पुण्यकर्म के भीतर भी अशुभ देखते हैं, किन्तु पुण्यकर्म ज्योंही परिपक्व होता है त्योंही वे मङ्गल ही मङ्गल देखते हैं। अच्छी तरह पचा हुआ भोजन जैसे हम लोगों के रक्त-मांस में परिणत होकर हमारे शरीर में मिल जाता है वैसे ही अभ्यास-द्वारा पुण्याचरण को हमें अपने मन का सहज विषय बना देना होगा। मन जब इस तरह स्वाभाविक पुण्य की प्रभा से विभूषित होगा तभी हमारा प्रत्येक अनुष्ठान कल्याणकारक होगा।

यथार्थ की ओर बौद्ध धर्म का झुकाव रहने पर भी नीति-क्षेत्र में इस धर्म-भाव को अत्यन्त ऊँचा आसन दिया गया है। बौद्धनीति दावे के साथ इस बात का प्रचार कर रही है कि तुम जो कुछ बोलो मन से बोलो, जो कुछ करो मन से करो। धर्म की उत्पत्ति मन से ही है। इसलिए मन को ही सबल करो। तुम जिस शील को ग्रहण करोगे वह शील अपनी इच्छा से प्रवृत्त होना चाहिए। शील को कुछ विधि-विधान की अचल सीमा के भीतर घेर रखने से काम न होगा। जिस शील को तुम स्वीकार करोगे वह स्वाधीन होगा। लोगों से वाहवाही लूटने या द्रव्यलाभ करने की इच्छा से तुमको शील का आचरण न करना चाहिए, तुम जिस शुभ कार्य का अनुष्ठान करो, ज्ञानपूर्वक करो, अज्ञानी की भाँति लोगों की देखा-देखी आचरण मत करो। बुद्धदेव कहते हैं—

अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया।

अपना शुभ कार्य भली भाँति जानकर उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। जिसका हृदय शुद्ध नहीं है उसका बाहर से भला होना किसी काम का नहीं। इसलिए बुद्ध ने कहा है—तुम लोग क्रोध को छोड दो, मन को संयत रक्खो, मन का दुष्ट आचरण छोडकर मन के द्वारा सत्कर्म करो।' वे उसी को यथार्थ संयत कहते हैं जिसके मन, वचन और शरीर तीनों सुसंयत हैं। वे कहते हैं, प्रेम से क्रोध को, शुभ से अशुभ को, निःस्वार्थता से स्वार्थ को और सत्य-द्वारा असत्य को जीतो। जो तुम्हारी बुराई करे उस पर क्रोध न करके तुम उसके साथ प्रेम करो। तुम्हारा जो जितना अपकार करे उसका तुम उतना ही उपकार करो। युद्ध में जो वीर एक लाख शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करे वह सच्चा विजयी नहीं है, किन्तु सच्चा विजयी तो वही है जो अपने मन को जीते। जो तुम्हारा दुश्मन है वह तुम्हारी कहाँ तक बुराई कर सकता है? सच पूछो तो तुम्हारा कुपथगामी मन ही तुम्हारा भारी से भारी अनिष्ट करता है। इसलिए तुम अपने घुमक्कड मन को रोककर वश में करो। तुम्हारा परम कल्याण होगा। सम्यक् प्रकार से रोका हुआ मन ही सुख देता है। पाप और पुण्य सब तुम्हारे हाथ में हैं। दूसरा कोई तुमको पवित्र नहीं कर सकता।

बुद्ध कहते हैं, मनको निष्पाप करने के लिए (१) जीव-हिंसा मत करो, (२) जो चीज तुम्हारी नहीं है, जो तुमको

नहीं दी गई है, वह मत लो, (३) व्यभिचार मत करो, (४) झूठ मत बोलो, (५) मद्यपान मत करो, इसी तरह (१) अपनी दृष्टि को निर्मल करो, (२) अपने सकल्प को सत् करो, (३) सच्ची बात बोलो, (४) अपना व्यवहार साधु रक्खो, (५) सद्वृत्ति से जीविका उपार्जन करो, (६) सभी चेष्टाएँ अच्छी करो, (७) अच्छी बातो का चिन्तन करो, (८) पवित्र ध्यान के द्वारा मन को समाधिस्थ करो ।

निर्वाणपथ के यात्रियों के प्रति बुद्ध का कथन है—

(१) तुमने जो पुण्य प्राप्त किया है उसकी रक्षा का यत्न करो।

(२) नये-नये पुण्य का सञ्चय किया करो।

(३) पूर्व सचित पापो का शीघ्र विनाश करो।

(४) सावधान रहो जिसमे नया पाप तुम पर आक्रमण न करे।

उपर्युक्त पाँच नैतिक निषेधो को साधक बौद्धगण "पञ्च-शील" कहते हैं। वे "पञ्चशील" "अष्टशील" या "दश-शील" ग्रहण करते हैं। शील को वे लोग निर्वाण-प्राप्ति का पाथेय मानते हैं। शील-पालन द्वारा कल्याण प्राप्त करने से उन्होंने शील को "महामङ्गल," "कुशल" आदि नाम दे रक्खे हैं।

मनुष्य के हृदय मे जो पाप, जो अस्थिरता जमकर उसे सत्यप्राप्ति से वञ्चित कर रखती है मन की उस मलिनता को

बुद्धदेव ने "अविद्या" कहा है। सब मलिनताओं से इस अविद्या को उन्होंने निकृष्ट माना है।

ततो मला मलतर अविज्जा परम मलम्।
एत मल पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो॥

जितनी मलिनताएँ हैं उनमें सबसे बढ़कर मलिनता अविद्या ही है। हे भिक्षुगण, तुम उस मलिनता को दूर कर निर्मल हो। इस अविद्यारूप मलिनता का नाश करने ही से मनुष्य का मन शुद्ध और निष्पाप होता है और तभी मनुष्य सत्य के साक्षात्कार से धन्य होता है।

बुद्ध के उत्तरकालवर्ती महापुरुष ईसा ने भी ठीक ऐसी ही घोषणा की है, "Blessed are the pure in heart for they shall see God,"—अर्थात् वे पुरुष धन्य हैं जिनका हृदय निर्मल है, क्योंकि उन्हीं को ईश्वर का दर्शन प्राप्त होगा।

बौद्ध गृह और गृही

भगवान् बुद्ध ने कहा है—हे गृही, तुम अपने घर को शुभ, उज्ज्वल प्रकाश से प्रदीप्त करो, घर को चारों ओर से मङ्गल-द्वारा सुरक्षित करो, निःसत्त्व बाहरी क्रिया-कलाप के द्वारा वह रक्षित नहीं हो सकता।

हे गृहस्थो, तुम अपने माँ-बाप की सेवा करो, उनकी धन-सम्पत्ति की रक्षा करो, सब प्रकार से उनके उत्तराधिकारी होने की योग्यता प्राप्त करो। और माता पिता का परलोक-वास होने पर श्रद्धा-सहित उनका स्मरण करो, ऐसा होने से तुम्हारे घर का एक भाग सुरक्षित होगा। जिन्होंने तुम्हारे ज्ञाननेत्रों को खोला है उन गुरु को देखते ही खड़े हो जाओ, उनकी सेवा करो, उनकी आज्ञा का पालन करो, यथासाध्य उनकी कमी को दूर करो और वे जो कुछ उपदेश दें वह जी लगाकर सुनो। इससे तुम्हारे घर का दूसरा भाग कल्याण-द्वारा रक्षित होगा। जो स्त्री तुम्हारी सहधर्मिणी, सह-कर्मिणी और सहभोगिनी है, उसका आदर करो, उससे कभी विश्वासघात न करो, ऐसी चेष्टा करो जिसमें वह तुम पर

गृह को सब ओर से शुभकर्म्म-द्वारा सुरक्षित रखने के लिए बुद्धदेव ने जैसे गृहस्थ को उपदेश दिया है वैसे ही उन्होंने अपने भीतर-बाहर को पुण्य और पवित्रता के शुभ कवच से ढक रखने की शिक्षा दी है। उन्होंने गृहस्थो के प्रति कहा है—हे गृहस्थो, तुमको जब गृह धर्म पालन करना होगा तब तुम किसी तरह गृहत्यागी भिक्षु के व्रत का उचित रीति से पालन नहीं कर सकोगे। इसलिए मैं तुमको निम्नलिखित व्रत-पालन का उपदेश देता हूँ जिसमें तुम साधु गृहस्थ हो सकोगे।—

न तो तुम कभी जीवहिंसा करना और न किसी से जीवहिंसा करने को कहना और दूसरे की जीवहत्या का अनुमोदन भी न करना। क्या सबल क्या दुर्बल, सभी प्राणियो की हिंसा से बचे रहना।

जो वस्तु तुम्हारी नही है वह बिना दिये तुम स्वय, या दूसरे की सहायता से, लेने की चेष्टा मत करना। सब प्रकार की चोरी से बचे रहना।

ज्ञानी मनुष्य अजितेन्द्रियता को जलता हुआ अगार समझ कर उससे बचे रहते हैं, अर्थात् वे इन्द्रियो के वशीभूत होकर कोई अयुक्त कर्म्म नहीं करते। यदि तुम अपनी प्रवृत्ति के ऊपर सम्पूर्ण रूप से जयी न हो सको तो भी तुम व्यभिचार न करना। न स्वय झूठ बोलना, न दूसरे को झूठ बोलने का आदेश देना। न मिथ्या भाषण के पक्ष का समर्थन करना। सब प्रकार की मिथ्या के सम्पर्क से बचे रहना। यदि सद्धर्म

पर तुम्हारा तनिक भी अनुराग हो तो भूल कर भी मद्य मत पीना, दूसरे को मद्य मत पिलाना। कोई और पीता हो तो उसका अनुमोदन न करना। मद्य पान से उन्मत्त होकर कितने ही अज्ञानी मनुष्य नाना प्रकार के पाप कर बैठते हैं, वे लोग दूसरे को भी मद्य पिलाकर पागल बना देते हैं। पाप की आवास-भूमि यह सुरापान और उससे उत्पन्न मतवाला होना असज्जन को ही प्रिय होता है, तुम इसका सर्वथा त्याग करो। तुम फूल-माला न पहनना, सुगन्ध-वस्तु का व्यवहार न करना और कोमल-शय्या पर शयन मत करना। भोग-विलास के पीछे अपने को बरबाद मत करना।

बुद्ध ने कहा है—हे गृहस्थो, यदि तुम परम कल्याण प्राप्त करना चाहा तो वृद्धों का आदर-सत्कार करो, दूसरे की वृद्धि देखकर कभी मन मलिन मत करो, धर्म से तुम्हें आह्लाद हो, धर्म में तुम्हारी प्रीति उपजे, धर्मज्ञान के लिए तुम्हारी उत्कण्ठा बढ़े, धर्म में ही तुम्हारा चित्त लगा रहे। धर्म के विरुद्ध तुम कोई वितण्डावाद मत खड़ा करो, ऐसा कोई काम कभी मत करो जिससे धर्म में किसी प्रकार का दाग लगे। झूठ बोलना छोड़ कर मधुर सत्यभाषण किया करो। जो तुम्हारे गुरु हैं उनके समीप उचित समय पर आओ। सब प्रकार की ढिठाई त्यागकर सदा उनके सामने श्रद्धा से सिर झुकाये रहो। जो शुभ मङ्गल हो वही करो और बारम्बार उसका स्मरण करके अभ्यास करते रहो। तुम वञ्चकता, कड़ाई, लोभ,

मोह, और अहङ्कार आदि पापों का त्याग कर दृढ़ता से प्रसन्नतापूर्वक रहो। सद्धर्म से यदि तुम्हारा हृदय प्रसन्न होगा तो तुम शान्ति, प्रेम और ध्यान में अपने चित्त को अवस्थित कर सकोगे।



बौद्धजीवन

दु ख का अस्तित्व महासत्य है *। मनुष्य-जीवन का अपरिहार्य्य अनन्त दु ख जब सिद्धार्थ को भली भाँति विदित हो गया तब उन्होंने भोग विलास से उदास होकर भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया। उन्होंने देखा कि साधारण मनुष्य को बहुत दु ख भोगना पडता है। एक दु ख का अन्त नहीं हो पाता कि दूसरा दु ख उठ खडा होता है। ऊँची तरङ्गमाला की भाँति दु.ख की परम्परा, एक के बाद दूसरी, मनुष्य के पीछे लगी रहती है, उसकी गति कभी रुकती नहीं।

सिद्धार्थ के मन मे यह प्रश्न उठा—इस दु ख का मूल कारण क्या है ? मनुष्य आत्म-शक्ति द्वारा इस दु खराशि को निर्मूल कर सकता है, या नहीं ? किस उपाय से इस दु ख का नाश हो सकता है ?

साधारण मनुष्य अपने व्यक्तित्व के गुप्त तत्त्वो को नहीं जानते। इस जीवन का अन्त होने पर वे किस परिणाम मे

* दु ख, दु ख की उत्पत्ति, दु ख की निवृत्ति और दु ख निवृत्ति का उपाय—इसी को बौद्ध शास्त्र ने चतुर्विध आर्यसत्य माना है।

उत्तीर्ण होंगे, यह बात कभी उनकी कल्पना में नहीं आती
उनका कौन सा काम, कौन सा वचन और कौन सा विचा
किस परिणाम की सृष्टि कर रहा है, यह भी उन्हें मालू
नहीं। उनका यह मानव शरीर क्योंकर प्रादुर्भूत हुआ
यह वर्तमान व्यक्तित्व उन्हें कैसे प्राप्त हुआ?—इस विषय
भी वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। स्वय अपने को न जानकर मनुष्
अपनी सत्ता की रक्षा करने को निरन्तर जूझता है। अन्
को यद्यपि अपने लिए जाने का मार्ग नहीं सूझता तथापि
लाठी के सहारे वह किसी तरह टटोलकर जाता आता है
उसी तरह मनुष्य भी जीवन-मार्ग मे विचरता है। सत्ता की
रक्षा के लिए मनुष्य जैसे इस जीवन-सग्राम में अशेष दु ख
पाता है वैसे ही थोडा-बहुत कुछ सुख भी पाता है। मनुष्य
का जीवन सुख-दुख की खिचडी है। चन्द्रमा की कला जैसे
घटती-बढती है, तरङ्ग का जैसे उत्थान और पतन होता है,
उसी तरह जीवन मे सुख भी है और दु ख भी।

दु ख के अस्तित्व के सम्बन्ध मे किसी को सन्देह करने का कोई कारण नहीं। सम्पूर्ण ससार से अपने को अलग मानकर जब मनुष्य अपनी सामान्य सत्ता की रक्षा के लिए झगडता है तब उसे दु ख भोगना ही पडता है। सारी दुनिया में सयोग-वियोग का जो एक अमोघ नियम विद्यमान है, उस नियम को देवता से लेकर मनुष्य तक कोई भङ्ग नहीं कर सकता। जिस शक्ति समूह के समवाय से एक स्वतन्त्र सत्ता की उत्पत्ति

हुई है, वह शक्ति-समूह एक न एक दिन शिथिल होगा ही। जिस घडी एक सत्ता की सृष्टि हुई उसी घडी उसके ऊपर जरा, व्याधि और मृत्यु की क्रिया आरम्भ हो गई। मनुष्य की सत्ता एक निर्दिष्ट सीमा के बीच घिरी हुई है, जहाँ सीमा है वहीं अनित्य है और जहाँ अनित्य है वहीं दु ख है।

मनुष्य जब एक स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त करता है तब उसका मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये छहों खुले मार्ग से, बाहरी विश्व-प्रकृति पर अपना प्रभाव फैलाते हैं। इन्हीं के परिणाम से मनुष्य के मन में वेदना का सञ्चार होता है और यही वेदना तृष्णा के अनेक रूपों में अपने को प्रकट करती है। अपनी इस विशाल तृष्णा को मनुष्य किसी तरह पूरी नहीं कर सकता — मन प्रिय समझ कर जिसे चाहता है वह सब समय उस नहीं मिलता और अप्रिय जानकर जिसे छोडना चाहता है वह भी समय समय पर उसे ग्रहण करना होता है।

तृष्णा का रसद पहुँचाने मे मनुष्य की असमर्थता ही दु खो का मूल कारण है। जिस मनुष्य को आत्मपरिचय नहीं है उसकी तृष्णा लता की भाँति क्रमश फैल जाती है। वर्षा के पानी से जैसे हरियाली दिन-दिन बढती है, वैसे ही तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति का दु ख दिन-दिन बढता जाता है। जाल मे फँसे हुए खरगोश की तरह तृष्णा से घिरा हुआ मनुष्य पाँच इन्द्रिय और पाँच विषय, इन दस प्रकार के दृढ बन्धन से बँध कर बार-बार दु ख पाता है।

अविद्या के कारण मनुष्य अपने को ससार से स्वतन्त्र समझता है किन्तु असल में वह इस अनन्त संसार-सागर का एक क्षणस्थायी बुलबुला है। स्वभावत उसे मालूम होता है कि वह भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्‌काल के चेतन-अचेतन सब पदार्थों से स्वतन्त्र है। इस ज्ञान के वशवर्ती होकर वह अपने तुच्छ व्यक्तित्व के सुख-साधन के लिए घोर परिश्रम करता है, और घोरतर परिश्रम से साधारण सुख-सामग्री प्राप्त होने पर उसकी तृष्णा शान्त न होकर और भी बढ जाती है। इस प्रकार उसे बहुत बडे दु ख और भयानक नैराश्य का सामना करना पडता है।

समतल पृथिवी पर बड़े वेग से घोडे को दौडा कर सारथी रथ पर सवार हो आगे बढते-बढते प्रतिक्षण अपनी प्रचण्ड गति का अनुभव करता है, बलदर्पित घोडा भी पद दलित धरती से अपने को स्वतन्त्र समझता है, किन्तु बहुत ऊँचे टीले पर खडा हुआ चौकीदार इनकी स्वतन्त्र सत्ता पर ध्यान ही नहीं देता, वह देखता है कि एक अखण्ड पदार्थ पृथ्वी पर हिल रहा है। हवा लगने से हिलता हुआ अयाल जैसे घोडे के शरीर का ही एक अश है, वैसे ही उक्त अखण्ड पदार्थ पृथ्वी का ही एक अश है। जो लोग ज्ञान के उच्च शिखर पर आरूढ होते हैं उन्हें पूर्ण सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

मनुष्य जब तक अपनी तृष्णा के वशीभूत हो तुच्छ सुख-भोग की खोज मे लगे रह कर अहकार में फूले रहेंगे, और

अपने तुच्छ जीवन को बहुत बड़ा समझेंगे तब तक वे किसी तरह दुःख से छुटकारा नहीं पा सकेंगे। जब रागद्वेष का विकार मन में नहीं रहेगा, चित्त शान्त होगा, तभी धर्म की सम्यक् उपलब्धि होने से अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा।

महापुरुष बुद्ध का जीवन मनुष्यों से यही कह रहा है—हे मनुष्यगण, जिस क्षुद्र अहबुद्धि ने तुमको संसार की एकता से अलग कर रक्खा है उस भेद-बुद्धि को तुम छोड़ दो, बुद्धि को स्थिर करके तुम शील ग्रहण करो। शुभ व्रत के साधन-द्वारा विमल आनन्द प्राप्त हो जाने पर क्रमशः तुम्हारे सब दुःखों का नाश होगा। फूले हुए वृक्ष की भाँति तुम राग-द्वेष प्रमुख मुरझाये हुए फूलों का त्याग करो। बोध को जाग्रत् करके तुम अपना प्रसार करो तो सारी हीनता और क्षुद्रता को नीचे छोड़कर, उच्च होकर, देश काल से अतीत विश्व के साथ एकता का अनुभव करोगे। यही ज्ञान—एकता का अनुभव प्रार्थनीय है। यही ज्ञान समग्र सत्य का सार है। सङ्कोच छोड़कर बेखटके आगे बढ़े चलो, तुमको कल्याणप्रद निर्वाण प्राप्त हो जायगा।

हे मानवगण, सब संशयों का नाश करके तुम परम सत्य की खोज में प्रवृत्त हो। इस सत्य का बीज तुम्हारे अन्तःकरण में छिपा है। तुम्हारी क्षुद्र स्वार्थता ने क्या कभी तुमको विमल आनन्द दिया है? तुम किस वस्तु के लिए इतना जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हो? सम्भव है स्वास्थ्य, सम्पत्ति,

सुख-साफल्य और प्रतिष्ठा आदि तुम्हारे काङ्क्षित विषय हों, किन्तु क्या ये सब तुमको नित्य-आनन्द दे सकते हैं? जरा और व्याधि दोनों तुम्हारा स्वास्थ्य नष्ट करने के लिए दिन-रात प्रयत्न करते रहते हैं। जब तक तुम मन में शान्तिलाभ नहीं कर सकोगे तब तक धन सम्पत्ति, भोग, सुख, शक्ति और प्रतिष्ठा आदि कुछ भी तुमको वास्तविक आनन्द नहीं दे सकेगा। सामान्य सुख-भोग के बन्धन को तोड़कर तुम जब सत्य की विमल ज्योति से अपने हृदय को प्रकाशित कर सकोगे तब देखोगे कि तुमने जो कल्याण प्राप्त किया है वह कितना गम्भीर, कितना परिपूर्ण और कितना व्यापक है।

निर्वाण के अभिलाषी मानवगण, तुम्हें अपने चित्तरूपी घोड़े को संयत करना ही होगा, तृष्णा को जड़ से उखाड़कर फेंकना ही होगा। नहीं तो नदी का स्रोत जिस तरह किनारे में उपजे हुए नल नामक पौधे को छिन्न भिन्न कर डालता है उसी तरह कामलालसा बार-बार आक्रमण करके तुमको पीड़ित करेगी। जड़ रह जाने पर पेड़ जैसे फिर पनप उठता है वैसे ही तृष्णा की जड़ न कटेगी तो बारम्बार दुःख उत्पन्न होगा। तुमने मकड़े की भाँति महीन जाल फैलाकर उसी में अपने को फँसा रक्खा है, तुम मेंढक की भाँति कुएँ को ही ब्रह्माण्ड समझ रहे हो, एक बार कुएँ के बाहर आते ही तुम्हें अनन्त ब्रह्माण्ड प्रत्यक्ष देख पड़ेगा। तुम उठो, जागो, स्वार्थ-त्याग करके परार्थ साधन के लिए जागो, क्षुद्रता

को छोड़कर विराट् को ग्रहण करो। अपने भीतर अपनी छोटी मूर्त्ति का अन्वेषण न कर सब जीवों—सब प्राणियों—के भीतर अपनी विराट् मूर्ति देखो।

हे धर्ममार्ग के यात्री, तुम अपनी प्रीति को उदारता के सब काल, सब देश में प्रसारित करो। तुम इसी जन्म में अपनी विराट् सत्ता का अनुभव कर सकते हो, यही तुम्हारी सर्वोपरि प्रतिष्ठा है। तुम आप ही अपने प्रकाशक होकर आत्मशक्ति के द्वारा परम कल्याण लाभ कर सकते हो, इसी में तुम्हारा परम गौरव है। जिस दिन तुम अचल बोधि प्राप्त करके कृतार्थ होगे उस दिन तुम्हारा स्वार्थ सारे विश्व-वासियों का स्वार्थ होगा, उस दिन तुम्हारा कल्याण विश्व का कल्याण होगा।

इसी जीवन में अपनी विराट् सत्ता का अनुभव करके निर्वाणपद पाना सम्भव है, इसलिए बौद्धसाधु जीवन को अत्यन्त मूल्यवान् समझते हैं। सुख दुःख और आनन्द-निरानन्द ही क्यों, मृत्यु तक को अग्राह्य करके सब प्राणियों के मङ्गल साधन में वे अकुण्ठित चित्त से अपने को समर्पण कर देते हैं। क्योंकि वे यह सोचते हैं कि वे किसी से भिन्न नहीं हैं; गूढरीति से सबके साथ संयुक्त हैं और सब जीवों का मङ्गल उन्हीं का मङ्गल है। अपनी क्षुद्र सत्ता का सम्पूर्णरूप से त्याग और विश्वव्यापी विराट् सत्ता के भीतर अपनी स्थिति मानना ही बौद्धजीवन का श्रेष्ठ परिणाम है।

बौद्धकर्म्म

कहा जाता है कि विमल बोधि प्राप्त करके भगवान् बुद्ध-देव ने कहा था—

अनेकजातिसंसार सन्धाविस्सं अनिब्बिस ॥
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन ॥
गहकारक! दिट्ठोऽसि, पुन गेह न काहसि ॥
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसंखित ॥
विसंखारगत चित्त तण्हान खयमज्झगा ॥

गृहरचयिता की खोज करके, उसे न पाकर मैंने न जाने कितनी बार जन्म लिया, कितने लोक देखे और कितना भ्रमण किया, बार-बार जन्म लेकर दुःख ही भोगा! हे गृहकारक, इस बार तुम्हे देख लिया है, अब तुम घर नहीं बना सकोगे, तुम्हारे खम्भे और दीवारे टूट गई हैं, मेरे विगत-सस्कार चित्त की सब तृष्णा नष्ट हो गई।

इस वचन से स्पष्ट विदित होता है कि एक ही गृहकारक, जीवों के जन्म-जन्मान्तर का कारण स्वरूप होता है और वही बोधि-द्वारा मनुष्य को प्रत्यक्ष हो जाय तो घर के सभी साज-सरजाम टूट-फूट जाते हैं, गृहकर्ता की सारी कारीगरी

मटियामेट हो जाती है। गृहकर्ता की प्रतिष्ठा-भूमि पूर्वकर्म्म की वासना, संस्कार और तृष्णा है। संस्कार और तृष्णा का क्षय हो जाने पर गृहकर्ता को फिर कहीं पैर पसारने की जगह नहीं रहती।

अभिधर्म ने इस गृहकर्ता का नाम रक्खा है कर्म्म। बाहर की क्रिया अथवा व्यापार कर्म नहीं हैं। मैंने शत्रु को मार डाला, यह हननव्यापार कर्म नहीं है, असल में इस साधन से जिस संस्कार की उत्पत्ति हुई वही कर्म है या उस संस्कार के अन्तर्गत गूढ शक्ति का नाम कर्म है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन सबों के बीच जो शक्ति रहकर, इन सबों को बुनकर, एक अपूर्व व्यक्तित्व का जाल बनाती है वही शक्ति कर्म है। बौद्ध लोग इस व्यक्तित्व की निरपेक्ष स्थिति को स्वीकार नहीं करते। सूर्य की किरणों और वृष्टि के कणों के मेल से जैसे मनोहर इन्द्रधनुष की रचना होती है वैसे ही रूप, वेदना आदि स्कन्ध ही विचित्र व्यक्तित्व की सृष्टि करता है। वास्तव में व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दो स्थानों का अन्तर्वर्ती वायुप्रवाह, उक्त स्थानो के दबाव के तारतम्य के हटते ही, जिस प्रकार विश्ववायु में मिल जाता है उसी प्रकार हमारा व्यक्तित्व, वासना का क्षय होते ही, ब्रह्माण्ड की सत्ता में मिल जाता है।

व्यक्तित्व का या अहङ्कार का परमार्थत कोई अस्तित्व नहीं है। रूप आदि (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और

विज्ञान) पञ्च स्कन्ध ही व्यक्तित्व के कारण हैं। इस अस्तित्व का स्वभाव जैसा कुछ हो, यही व्यक्ति दुःख भोगता है, समार मे घूमता है और इसी का निर्वाण होता है। दुःख कहो, ससार कहो, और चाहे निर्वाण कहो, इन्हीं के आश्रयवर्ती होकर व्यक्ति इनको नियमित करता है, किन्तु व्यक्ति जो कर्म करता है उस पर उसका आधिपत्य नहीं रहता, कर्म ही उसके ऊपर प्रभुत्व करता है। एक पतला सूत जैसे सैकड़ों फूलों के बीच से निकलकर बिखरे हुए स्वतन्त्र फूलों को एक माला के रूप मे कर देता है वैसे ही यह अदृश्य कर्मशक्ति अलग मुहूर्त अलग दिन, बाल्य, यौवन, प्रौढ और बुढापा प्रभृति विभिन्न अवस्थाओं और जन्मजन्मान्तर के एक ही जीव के विभिन्न व्यक्तित्व के बीच से प्रवाहित होकर इन सबो को एक ही सूत्र में मिला रही है। इस वर्तमान समय मे मैं जो हूँ वह, पूर्व काल में जो मैं था उसी का, परिणाम मात्र है।[1] हम लोग दूध से दही, दही से मक्खन, और मक्खन से घी पाते हैं, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जो दूध है वही दही है, वही मक्खन है, और वही घृत है, यद्यपि दूध के आश्रय से ही दही, मक्खन और घी का आविर्भाव हुआ है। दही दूध नहीं है, और फिर दूध से भिन्न भी नहीं है। दधित्व की उत्पत्ति के साथ-साथ दुग्धत्व का निरोध होता है, किन्तु दुग्धत्व का धर्म दधित्व में विद्यमान रहता है। इस तरह बालक, युवा, प्रौढ और वृद्ध का व्यक्तित्व स्वतन्त्र होने पर

भी एक ही देह का आश्रय करके भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। कर्म का परिणाम प्रतिक्षण, प्रतिदिन हम लोगों के बीच नये-नये व्यक्तित्व की रचना कर रहा है। बिजली की शक्ति से जैसे दोलक यन्त्र बराबर हिलता रहता है, वैसे कर्म-प्रवाह मनुष्य-जीवन को लेकर नाना प्रकार के खेल खेल रहा है। न जाने कितने युग-युगान्तर और जन्म-जन्मान्तर से यह खेल चल रहा है। प्रश्न हो सकता है, तो क्या इस खेल की समाप्ति नहीं है? इस पर बौद्धों का कथन है—हाँ, यह खेल समाप्त तो होगा, किन्तु जब तक तुम्हारी अविद्या दूर नहीं होती तब तक तुमको कर्म्म की प्रबल शक्ति की अधीनता, इच्छा न रहते भी, स्वीकार करनी ही होगी। किन्तु ज्योंही तुम पवित्र बोधि-लाभ करोगे त्योंही कर्म का सत्य स्वभाव, उसकी करा-मात तुम्हें देख पड़ेगी, त्योंही कर्म तुमको अपना स्वामी मान लेगा। तब तुम्हारे ऊपर उसकी कुछ हुकूमत न रहेगी। कर्म की शक्ति तुम्हारे वर्तमान और भविष्य का मिला हुआ पुल है। तृष्णा का क्षय होते ही यह संयुक्त पुल टूट जाता है, निर्वाण-पद प्राप्त होता है और पुनर्जन्म की फिर सम्भावना नहीं रहती। बारम्बार जन्म लेने का जो कारण है उसका अभाव होते ही फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। जैसे जुताई न करने और बीज न बोने से धान होने की सम्भावना नहीं रहती वैसे ही आसक्ति और वासना का नाश होने से जन्म लेने की सम्भावना नहीं रहती। बौद्धगण कहते हैं, घर में

चिराग जलाते ही जैसे घर का अन्धकार दूर होता है और सब पदार्थ सूझने लगते हैं वैसे ज्ञान दीपक का उदय होते ही साधक के हृदय का अविद्यारूपी अन्धकार दूर होता है और आर्यसत्यचतुष्टय उसको दृष्टिगोचर होते हैं। तब उसकी स्थिर-बुद्धि एक ओर से मन को खूब जोर से पकड़कर रोक रखती है और दूसरी ओर से तृष्णा का मूलच्छेदन कर देती है। उसकी तृष्णा की जड़ कटते ही जन्म-जन्मान्तर का कर्म्मसूत्र टूट जाता है। यह अनायास ही जाना जा सकता है कि हमारा शारीरिक, मानसिक, वाचिक भला बुरा जो कुछ कार्य होता है सब हमारे भीतर की प्रेरणा से ही होता है। मन से प्रेरित होकर ही हम लोग कोई काम करते हैं। कर्म हम लोगों को करना ही होगा और उसका फल भी अवश्य भोगना होगा। ऊपर को फेंका हुआ ढेला जैसे धरती पर गिरेगा ही, वैसे ही शुभ या अशुभ कर्म्म नये-नये संस्कारों की सृष्टि करेंगे ही। धम्मपद में लिखा है—बहुत दिनों के प्रवासी के निर्विघ्नता-पूर्वक घर लौट आने पर बन्धुवर्ग जैसे उसका स्वागत करते हैं वैसे ही इस लोक से लोकान्तर में जाने पर मनुष्य का पुण्यकर्म मित्र की भाँति उसकी अभ्यर्थना करता है। शुभाशुभ कर्म हम लोगों को एक परिणाम से दूसरे परिणाम में तथा जन्म से जन्मान्तर में ले जाता है। कर्म्म की यह प्रबल शक्ति इच्छामात्र से ही नष्ट नहीं की जा सकती। साधना के आरम्भ में ही किसी साधक को मन में यह मान लेना उचित

नहीं कि सब प्रकार के शुभाशुभ कर्म मेरे बार-बार जन्म लेने के हेतु होकर मुक्तिलाभ में बाधा डाल रहे हैं, इसलिए मैंने अभी से पाप-पुण्य दोनों कर्म त्याग दिये। बौद्ध कहते हैं, तृष्णा-क्षय के द्वारा अपने व्यक्तित्व का लोप करने से पहले यह बात कहने का अधिकार किसी साधक को नहीं है। वह जो हठ करके मन में यह प्रण ठानता है कि मैं पाप-पुण्य कुछ न करूँगा, तो उसकी इस प्रतिज्ञा से एक नये संस्कार की उत्पत्ति होगी। उसका यह कट्टरपन हुआ उसका कर्म, और इसका परिणाम उसे भोगना ही होगा। मेढकी जब स्वाभाविक नियम से बढ़ती रहती है तब एक दिन उसकी पूँछ आप ही गिर जाती है। इसके लिए किसी तरह के यत्न प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि असमय में जबर्दस्ती पूँछ गिरा देने से उसकी गुरुतर हानि होना ही सम्भव है। साधना करते-करते जिस दिन साधक का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है उसी दिन उसकी तृष्णा आप ही आप दूर हो जाती है। उसी समय साधक कर्म के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है। इसके पूर्व जबर्दस्ती की जाय तो कोई फल प्राप्त नहीं हो सकता।

एक ओर कर्म का सृष्टिकर्ता मैं हूँ, और दूसरी ओर से वह कर्म मेरा सृष्टिकर्ता होता है। कर्म के पञ्जे से छुटकारा पाकर मुक्ति प्राप्त करना साधारण शिक्षा का विषय नहीं है। यह जी-जान लगाकर साधन करने का विषय है। इस साधनयज्ञ में व्यक्तित्व की आहुति देनी होगी। यहाँ एक प्रश्न

स्वभावत उठ सकता है कि साधक ने साधना-द्वारा जब अहङ्कार को नष्ट कर दिया, तब भी उसका शरीर विद्यमान रहता है और अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। उसके ये कर्म कैसे हुए? संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर यही है कि—स्थिर-प्रज्ञ साधक की बाहरी क्रियाएँ तृष्णामूलक नहीं हैं, रूप वेदना-संज्ञा-संस्कार और विज्ञान की जो आन्तरिक शक्ति साधारण मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है उस शक्ति से सिद्ध साधक के कर्म उत्पन्न नहीं होते। इसलिए उसका काम नये संस्कार, नये व्यक्तित्व और नये दुःख की सृष्टि नहीं करेगा।

अबोध बालक दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर भय से काँप उठता है, किन्तु ज्योंही वह इस प्रतिबिम्ब की असलियत को जान लेता है त्योंही उसके भय का सभी कारण दूर हो जाता है। कर्म की सत्यमूर्ति हमारी पहचान मे नहीं आती, इस-लिए वह हमारे निकट भयङ्कर प्रतीत होती है। पाप-पुण्य का बन्धन हाथ मे लिये कर्म हम लोगों को दण्ड या पुरस्कार देने के लिए विचारक के आसन पर बैठकर हमारी ओर तीव्र दृष्टि से ताक रहा है। किन्तु साधक के समीप इस कर्म्म की सारी शक्ति विफल हो जाती है। क्योंकि कर्मवृक्ष जिस झरने की रसधारा ग्रहण करके डाल, पत्ते, फल, फूलों से हरा-भरा रहता है उस झरने के मुँह को साधक बन्द कर देते हैं। उनकी तृष्णा का क्षय होते ही यह कर्म-तरु छिन्न-मूल वृक्ष की भाँति कटकर गिर पड़ता है। इस प्रकार साधक भले-बुरे सब कर्म

के बन्धन से मुक्त होकर शोक-रहित, निष्पाप और पवित्र हो जाते हैं। तृष्णा का मूलच्छेदन करके साधक अनागारिक—बे घर-द्वार के—होते हैं, अर्थात् जिस गृहकर्ता ने उन्हें जन्म-जन्मान्तर में नाना लोको मे घुमाकर अशेष दुःख दिया था उस घर बनानेवाले के घर की दीवार और उसके सभी उपकरण उन्होंने तोड-मरोडकर फेक दिये। बौद्ध साधक इस बात को भली भाँति जानते हैं कि शारीरिक, मानसिक, और वाचिक कोई अनुचित कर्म करने से कर्त्ता को अवश्य उसका फल भोगना होगा। पहिया जिस तरह भारवाही बैल के पद-चिह्न का अनुसरण करता है उसी तरह दुःख भी बुरा काम करनेवाले के पीछे लगा फिरता है। बौद्धों का कर्म ममत्व-रहित और स्नेहशून्य होता है।

साफ आइने में जैसे ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वैसे ही कर्म भी यथायोग्य फल प्रदान करता है। कोई कोई समझते हैं कि बौद्ध धर्म ने कर्म्म को ईश्वर या ब्रह्म के आसन पर बिठाया है, किन्तु सोचकर देखने से विदित होता है कि इस धर्म ने जीवात्मा को सर्वोपरि ऊँचे आसन पर जगह दी है। क्योंकि साधन द्वारा मनुष्य कर्म के ऊपर प्रभुत्व पा सकता है। यह बात निःसङ्कोच कही जा सकती है कि मनुष्य अपना अदृष्ट, अपना परिणाम, आप ही उपजाता है। मनुष्य आप ही अपना बन्धन तैयार करता है और अपनी शक्ति से ही बन्धन तोडकर मुक्ति प्राप्त करता है। बौद्ध धर्म ने मनुष्य को बन्धन से मुक्ति पाने की युक्ति बताकर उनकी आत्मा को परम प्रतिष्ठा दी है।

बौद्धसाधना

एक ओर भोग-विलास का प्रखर प्रवाह है और दूसरी ओर दुस्सह कठोर साधन है, इन दोनों के बीच मुक्ति का एक उदार राजमार्ग फैला हुआ है। ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् बुद्धदेव ने साधना के इस मध्यवर्ती मार्ग का आविष्कार किया था। मृगदाव (सारनाथ) में उन्होंने अपने पिपासु भक्तों से कहा है—वत्सगण, कठिन साधना-द्वारा मुक्ति की खोज मत करना, अथवा प्रचुर भोग-विलास में उलझकर अपने को मत भूल जाना। मछली-मास छोड़ने, वस्त्र धारण न करने, सिर मुड़ाने, जटा-वल्कल के धारण करने, भस्म लगाने और हवन आदि के द्वारा हमारे मन का पाप दूर नहीं हो सकता। जिसका मोह दूर नहीं हुआ है उसके लिए वेद-पाठ, दान, यज्ञ, कठोर तपस्या आदि सब निष्फल है।

क्रोध, अनाचार, कट्टरपन, ठगी, अहङ्कार, और द्वेष आदि बुरी प्रवृत्तियाँ ही चित्त को मलिन करती हैं, मछली-मास के खाने से मन अपवित्र नहीं होता। मैं अत्यधिक भोग-विलास और कठिन तपस्या के बीचोबीच के साधन-मार्ग की बात तुमसे कहूँगा।

शरीर को असह्य क्लेश देकर अस्थिचर्मावशेष कर देने से साधक नाना प्रकार की व्यर्थ चिन्ता और संशय से व्याकुल हो उठता है। कही गई कठिन तपस्या-द्वारा इन्द्रियों का जीतना दूर की बात है, उससे सांसारिक साधारण ज्ञान होना भी सम्भव नहीं। जो तेल के बदले पानी से चिराग को भरेगा उसके यहाँ उजेला क्योंकर होगा ? जो लकड़ी जलकर राख हो गई है उसके द्वारा आग जलाने की चेष्टा जरूर ही व्यर्थ होगी। इसलिए कठिन तपस्या क्लेशदायक, अनावश्यक और व्यर्थ है।

जब तक मनुष्य का अहङ्कार दूर नहीं होता, जब तक इस लोक या परलोक के सुख-भोग की तृष्णा उसके मन में बनी रहती है तब तक तप साधन व्यर्थ श्रम है। जिसने अहङ्कार को जीत लिया है वह स्वर्ग-मर्त्य के किसी सुख-भोग की कामना नहीं करता। शरीर का प्रयोजन पूर्ण करने के लिए परिमित भोजन-पान से उसका मन कदापि म्लान नहीं होता।

कमल सरोवर के बीच में ही रहता है, परन्तु जल उसके पत्तों को छू तक नहीं सकता।

दूसरे पक्ष में इन्द्रियों की परवशता ही शरीर और मन को दुर्बल करती है, इन्द्रियलोलुप मनुष्य प्रवृत्ति का दास हो रहता है। इन्द्रिय के सुख-भोग की लालसा मनुष्य को मनुष्यत्वहीन और नीच बना देती है।

इस कारण युक्त आहार-विहार करना अकल्याण-कारक नहीं है। शरीर को स्वस्थ और बलवान् रखना मुख्य कर्तव्य

है। शरीर सबल न रहने से हम क्योंकर ज्ञान का दीप जला सकेंगे और मन को बलिष्ठ तथा निर्मल कर सकेंगे? भिक्षुओ,-यही मध्यमार्ग है। भोग-विलास की प्रचुरता और कठिन तपश्चर्या इन दोनों से बचकर इनके बीच की सुगम राह से चलो।

बुद्ध ने कहा है—जिसने दुःख का अस्तित्व, उसकी उत्पत्ति का कारण और उसकी निवृत्ति का उपाय ठीक-ठीक जान लिया है उसी को मुक्ति का सरल मार्ग मिल गया है। सम्यक् दृष्टि उसको बत्ती का काम देती है, सम्यक् सङ्कल्प उसे रास्ता दिखाता है, सम्यक् वचन उसके मार्ग का विश्राम-स्थान होता है। उसकी चालढाल सीधी होती है, क्योंकि उसके सभी व्यवहार निश्छल और विशुद्ध होते हैं। पवित्र अन्न खाकर वह निर्मल तृप्ति पाता है, क्योंकि वह साधुवृत्ति से रहता है। अच्छा उद्योग करने को ही वह चलता-फिरता है, क्योंकि वह कभी अपने संयम के विरुद्ध आचरण नहीं करता। सम्यक् स्मृति ही उसके निःश्वास हैं, क्योंकि सत्य विचार, साँस लेने की तरह, उसके लिए स्वाभाविक हो जाते हैं। सम्यक् ध्यान उसे शान्ति सुख देता है, क्योंकि जीवन के यथार्थ तत्त्वों का मनन और ध्यान करने से उसको शान्ति मिलती है।

अपने आन्तरिक परम सत्य-सम्बन्धी बोध का प्राप्त करना ही बुद्धत्व-प्राप्ति का अर्थ है। साधारण ज्ञान-द्वारा मनुष्य जो जानता है वह खण्डज्ञान है। किन्तु मनुष्य को

आध्यात्मिक दृष्टि जब खुल जाती है तब खण्डज्ञान का परदा हटते ही उसे अपना असली रूप दिखाई देता है। मनुष्य की यह अन्तर्दृष्टि जब तक नहीं खुलती तब तक वह व्यक्तित्व के सङ्कीर्ण अन्धकारमय गढ़े के भीतर रहता है।

भगवान बुद्धदेव ने जिस साधन-प्रणाली की बात कही है उसका स्थूल अभिप्राय यही है—व्यक्तित्व को फैलाकर अपने अन्तर्गत बृहत् सत्य को जानना, अथवा व्यक्तिगत जीवन को सम्पूर्ण रूप से विश्वजीवन के साथ एक कर देना चाहिए।

साधना-द्वारा अध्यात्म दृष्टि खुलने से साधक को भीतर के जिस गूढ़ तत्त्व का प्रकाश देख पड़ता है उसे ब्रह्म कहो, ब्रह्मा कहो, होलिगोस्ट कहो, धर्मकाय कहो या उसका चाहे जो नाम रक्खो, मूल पदार्थ में कोई भेद न होगा। वे सब एक ही निगूढ़ सत्य को सूचित करेंगे।

भगवान् बुद्धदेव के उपदेश से हम जो समझते हैं उससे स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने साधना द्वारा शरीर और मन दोनों को नलिष्ठ और निर्मल करने को कहा है। हम लोग जैसे देह को मन का बाहरी आवरण कह सकते हैं वैसे ही मन को भी देह की सूक्ष्मसत्ता कह सकते हैं। जीव की जो सत्ता बाहर देह रूप से दिखाई देती है उसी अनुभव का भीतर मन कहा जा सकता है। जीव की समग्र सत्ता इन दोनों की समष्टि है। इसलिए एक ओर देह को जैसे पवित्र रखना उचित है वैसे ही दूसरी ओर प्रवृत्ति की धूल को झाड़ पोछ-

मनुष्य की अज्ञानमूलक नीचवृत्तियाँ जब दूर होंगी तब हृदय में विविध कल्याण-कारक सद्गुण अवश्य उत्पन्न होंगे। हिंसा-वृत्ति त्याग करके मनुष्य जब अक्रोधी और क्षमाशील होता है तब धीरे-धीरे उसके हृदय में जीवों के प्रति प्रीति और दया का सञ्चार होता है। धन के प्रति जब मनुष्य का बेहद लोभ नहीं रहता तब उसके मन में उदार भाव की उत्पत्ति होती है। कामलालसा से विरत होकर मनुष्य का चित्त जब निर्मल हो जाता है, तब निःस्वार्थ प्रेम का उदय होता है, 'शील' के सम्यक् पालन से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए बुद्धदेव के ये शील एकमात्र बाहर से ही नहीं किन्तु भीतर से भी मनुष्य को शुभमार्ग पर ले जाते हैं।

गृही हो चाहे सन्यासी, प्रत्येक बौद्ध को सरल और स्वाभाविक धर्मनीति मानकर चलना होगा। बुद्धदेव के ये स्वतःसिद्ध 'शील' मनुष्य के अन्तर्गत नैतिक बल को जाग्रत् करने के लिए बड़े उपयुक्त हैं। यही (शील) शुभ मार्ग और निर्वाण-प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं। उन्होंने इन शीलों को बढ़ाकर, महा-मङ्गल संज्ञा देकर, कहा है —

(१) असत् पुरुष की सेवा न करना, सज्जन की सेवा और संग तथा पूज्य लोगों की पूजा करना।

(२) साधना के अनुकूल स्थान में रहना। पूर्व के किए हुए पुण्य को बढ़ाने की चेष्टा करना, शील-पालन और धर्मकार्य में अपने को सम्यक् रूप से नियुक्त करना।

(३) बहुसत्य, शिल्प और विनय की शिक्षा और अच्छी बातें कहना।

(४) माँ-बाप की सेवा, स्त्री-पुत्र का हित-साधन और शुभ कर्म्म का अनुष्ठान।

(५) दान, कुटुम्बियों का कल्याण साधन।

(६) पापाचरण से घृणा, मद्यपान से अरुचि और धर्म-साधन में तत्परता।

(७) मर्यादापालन, नम्रता, सन्तोष और कृतज्ञता।

(८) क्षमा, प्रियवाक्य, साधुदर्शन।

(९) ब्रह्मचर्य, तपस्या, और आर्य सत्य का दर्शन।

(१०) लोक-निन्दा से निरुद्वेग, शोक और ताप में हृदय की स्थिरता।

सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए किस गम्भीर संयम की और मङ्गलव्रत साधन के लिए किस गम्भीर अनुराग की आवश्यकता है, यह सहज ही जाना जा सकता है। बौद्ध साधक याग आदि क्रियाकाण्ड में विश्वास नहीं करते। न उनके पुरोहित हैं और न उनके उद्धारकर्ता गुरु ही। साधना के मार्ग में वे सर्वथा एकाकी हैं। बहुत हुआ तो मनुष्य उन्हें मार्ग दिखा दे सकता है, इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकता। एकमात्र आत्मबल से समूचा मार्ग तय करके उन्हें गन्तव्य स्थान में पहुँचना होगा। मृत्यु शय्या पर पड़े हुए भगवान् बुद्ध ने अपने उपस्थायक आनन्द को सम्बोधन कर कहा—भाई

आनन्द, मेरे जीवन के अस्सी वर्ष व्यतीत हो चुके। मेरा समय पूरा हो गया। मैं अब इस दुनिया से विदा होता हूँ। देखो, मैं अब तक बेखटके अपने भरोसे रहा, स्वावलम्बनपूर्वक चला। तुम सब भी आत्मनिर्भरता सीखो। तुम आप ही अपने प्रकाशक बनो, आप ही अपने सहारे की लाठी बनो। सत्य का आश्रय ग्रहण करो। अपने सिवा किसी का भरोसा मत करना।

बौद्धसाधना का जैसे "नहीं" की ओर झुकाव है वैसे ही इसका एक अद्भुत "हाँ" की ओर भी झुकाव है। निर्वाण के अभिलाषी साधक दुःख की प्रेरणा से जैसे जीव के शरीर को व्याधि-मन्दिर, क्षणस्थायी, दुःखमय और जन्म-मृत्यु के अधीन समझते हैं वैसे ही उनको यह भी समझना होता है कि सभी जीव बराबर हैं, कोई जीव घृणा का पात्र नहीं। सभी जीवों के साथ तुल्य प्रेम करना होगा। साधक को सम्पूर्ण जगत् के देव-मानव-जीव-जन्तुओं की—सभी की—सुख-कामना करनी होगी। शत्रु-मित्र सभी की शुभ कामना से उनका हृदय भरा रहेगा। सब लोग रोग, शोक, व्याधि और मृत्यु से छुटकारा पावें, यह शुभ कामना उनके हृदय में सदा बनी रहे।

दुखियों का दुःख देखने से साधक का हृदय करुणा से द्रवित होगा, सुखी का सुख देखकर उनका चित्त आनन्द से पुलकित होगा। वे सोचेंगे—

दिट्ठा वा ये च अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे ।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्तु सुखित'त्ता ॥

क्या दृष्ट क्या अदृष्ट, क्या दूरवासी क्या निकटवासी, क्या भूतकालिक क्या भविष्यत्कालिक, कोई प्राणी कैसा ही क्यों न हो—सभी सुखी हों। मैत्री, दया, मुदिता, अशुभ और उपेक्षा इन पाँच प्रकार की भावनाओं के ऊपर बौद्ध साधकों को सदा खयाल रखना होगा।

बौद्ध साधना को हम ज्ञानमूलक प्रेम की साधना कह सकते हैं। कोशलराज्य के अन्तर्गत मनसाकृत् गाँव में आम के बाग में भगवान् बुद्ध एक समय धर्म-प्रचार कर रहे थे। उसी समय भरद्वाज और वशिष्ठ नामक दो ब्राह्मणकुमार उनके पास धर्मविषयक विचार करने को आये। उन्होंने दोनों युवकों से कहा—बुद्ध की धर्मसाधना के प्रारम्भ में प्रेम ही प्रधान है। प्रेम ही इस साधन की उन्नति और गति है। इस साधन का परिणाम प्रेम ही है। ❀ ❀ ❀

बुद्ध अपना प्रेम परिपूर्ण मन ब्रह्माण्ड के चारों ओर पसार देते हैं। इस प्रकार उनके ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सभी स्थान प्रीति के रस से पूर्ण हो उठते हैं।

विश्व-प्रेम या विश्वमैत्री बौद्धशास्त्र में अत्यन्त विशदरूप से प्रतिपादित हुई है। बौद्धशास्त्र में यह प्रश्न यों छेड़ा गया है कि भिक्षु किस प्रकार मैत्रीयुक्त चित्त के द्वारा दिग् दिगन्त को प्रकाशित करके घूमेंगे? इसका उत्तर यों दिया गया

है—संसार में जिस तरह लोग किसी प्रिय व्यक्ति को देखकर उसके साथ मित्रता का व्यवहार करते हैं, उसी तरह सब जीवों के साथ मित्रत्व भाव का बर्ताव करना होगा। 'अभिधर्म-पिटक' में मैत्रीभाव का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—साधक के मन में सदा यह विचार रहेगा कि समस्त जीव शत्रुरहित, बाधारहित, और प्रसन्नचित्त होकर अपने को परिचालित करें। सभी प्राणी, समस्त जीव, सभी व्यक्ति और जन्मग्राही निर्वैर होकर बेखटके सुखी होते हुए अपने आपको परिचालित करें। सभी स्त्री-पुरुष, सभी आर्य-अनार्य्य, सभी देव-मनुष्य और नरक आदि में स्थित सभी जीव शत्रुता-रहित, बाधा-रहित और सुखी होकर स्वयं परिचालित हों।

बौद्धसाधक के ध्यान के चार विषय हैं। (१) निर्जन स्थान में ध्यान करके मन को सब प्रकार की पापलालसा से विमुक्त करना। (२) पूर्ण आनन्द और सुख के ध्यान से चित्त को एकाग्र रखना। (३) आध्यात्मिक ध्यान से चित्त को प्रसन्न रखना, और (४) चित्त को सांसारिक सुख-दुःख के झमेले से अलग कर पवित्रता और शान्ति के भीतर विहार करना।

बौद्ध साधक का लक्ष्य बुद्धत्व-प्राप्ति है। वे जानते हैं कि अज्ञानता-रूपी कुहरे से मन के ढके रहने के कारण हम स्वार्थपरायण होते हैं, चरम लक्ष्य के विषय में मूर्ख होने से हम प्रवृत्ति के दास हो रहे हैं। सबको अपने से भिन्न समझने ही के कारण हम क्रोध, हिंसा और द्वेष आदि के शिकार हो रहे हैं।

बौद्ध-साधना ने ज्ञान की ओर इतना ज़ोर दिया है जिससे कोई-कोई इसको एकबारगी नीरस और एकाङ्गी ज्ञान की साधना कहा करते हैं। बोधि जिस साधना का चरम लक्ष्य है उसे ज्ञान की साधना कहना कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। किन्तु इसके साथ यह भी कहना चाहिए कि बौद्धसाधना की उत्पत्ति, प्रयाण और परिणति सब प्रेम के ही अन्तर्गत है। प्रेम का प्रसार ही बौद्धसाधु के अनुदिन का साधन है। उनके मनन और ध्यान से ही यह जाना जा सकता है।

अगुत्तर-निकाय के प्रथम निपात, द्वितीय वर्ग में बुद्धदेव कहते हैं—हे भिक्षुगण, मैं ऐसा एक भी धर्म नहीं देखता हूँ जिसके प्रभाव से कामना की उत्पत्ति न हो और उपजा हुआ कामाभिलाप नष्ट हो। ज्ञानपूर्वक शरीर की अनित्यता पर विचार करने से नई कामलालसा उत्पन्न नहीं होती और उत्पन्न वासना का नाश होता है। मैं ऐसा एक भी धर्म नहीं देखता जिसके प्रभाव से हिंसा और दूसरे की अनिष्ट-कामना आदि बुरी वासना उत्पन्न न हो या उपजी हुई हिंसात्मक बुद्धि नष्ट हो। हे भिक्षुगण! ज्ञानपूर्वक मैत्री भाव का मनन करने से हिंसात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और उपजे हुए हिंसा द्वेष नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् मन जब सब प्राणियों के साथ मित्रत्व-भाव का बर्ताव करता है तब काम, क्रोध, दूसरे की अनिष्ट-चिन्ता और औद्धत्य आदि सब आपसे आप दूर हो जाते हैं।

बौद्धसाधना

(द्वितीय प्रस्ताव)

बौद्ध-साधना की मुख्य बात है अविद्या के साथ संग्राम। बोधि-वृक्ष के तले महापुरुष बुद्ध ने जिस दिन साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त की उस दिन मनुष्य-जीवन का कोई दुर्ज्ञेय रहस्य उन्हें सूझ पड़ा। उन्होंने अपनी नई प्रज्ञा-दृष्टि-द्वारा देखा कि अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव और भव से जन्म प्राप्त होता है। इसी जन्म के कारण मनुष्य रोग, शोक, जरा, व्याधि और मृत्यु के दुःख तथा यन्त्रणा भोगते हैं।

मनुष्य के इस परमदुःख का अस्तित्व, इसकी उत्पत्ति का कारण और निवृत्ति के उपाय का निर्धारण करने में ही महापुरुष बुद्ध की प्रतिभा खर्च हुई है। अविद्या को ही उन्होंने मूलव्याधि माना है। इस अविद्या का नाश होने ही से मनुष्य इस जीवन में निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बुद्धदेव ने धम्मपद में कहा है—अविज्जा परम मलम्।

उन्होंने साधक के प्रति कहा है—"एत मलपहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो।" हे भिक्षुगण, इस मलिनता को त्यागकर निर्मल हो। इस अविद्या के विनाशार्थ उन्होंने अष्टविध आर्य-मार्ग बतलाये हैं। इसी के साथ जूझने के लिए साधक मैत्री, करुणा और मुदिता आदि सद्गुणों का अवलम्बन करते हैं। इसी हेतु उन्होंने मनुष्य-जीवन के अपरिहार्य दुःख और सब प्राणियों की एकता पर विचार किया है। शील ग्रहण का भी तात्पर्य यही है कि इस अधमतर मलिनता या अविद्या का विनाश हो।

इस अविद्या को कुछ अंशों में पराभूत करके साधक जब साधना के मैदान में प्रवेश करता है तब भी यह अविद्या पाप-प्रलोभन की अनेक मूर्तियाँ धारण करके चारों ओर से उस पर आक्रमण करती है। साधक जानता है कि अविद्या ने उसको संसार से पृथक् करके क्षुद्र अहंभाव और संकीर्णता के कोट में बन्द कर रक्खा है। बीच बीच में वह चकित की तरह अपनी उस बड़ी सत्ता का अनुभव करता है, परन्तु वह ज्ञान स्थिर नहीं रहता, वह अपनी क्षुद्र सत्ता को ही सत्य समझ बैठता है। अविद्या के कारण प्रवर्तक के मन में कभी-कभी उस समय अपने अवलम्बित आर्यमार्ग के प्रति अविश्वास उत्पन्न होता है और कभी सद्धर्म और शुभ कर्म्म के ऊपर श्रद्धा खोकर वह एकदम अधीर हो उठता है। इस अस्ति-नास्ति के संशय में आन्दोलित हो रहे मन को लेकर ही उसको आगे की ओर बढ़ना होता है। वह आलस्य-रहित होकर—

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्त निवारये—

मन के पाप को मिटाकर शुभ मार्ग की ओर प्राणपण से दौड़ता है। उसका शुभ उद्यम और उसकी दृढ़निष्ठता एक-एक कर संशय की सब गाँठें खोल डालती है। उसके साधन-मार्ग में विघ्न बाधाओं का अन्त नहीं। सांसारिक भोग-लालसा और पारलौकिक सुख की इच्छा तथा अहङ्कार उसके सामने सुदृढ़ दीवार की भाँति खड़ा होता है। शीलपालन और धर्म साधन में अटल रहकर साधक धीरे-धीरे उस दीवार को तोड़ कर आगे बढ़ता है। दिन पर दिन उसके अध्यवसाय के प्रभाव से क्रमशः सभी विघ्न-बाधाएँ दूर हट जाती हैं। वह रोज-रोज अपनी स्वाभाविक साधुवृत्तियों के बढ़ाने की चेष्टा करता है, नये-नये सद्गुणों की प्राप्ति के लिए वह सदा यत्नवान् रहता है। वह सावधान होकर अपने भीतर के समस्त चिर-सञ्चित पापों को धोकर क्रमशः पवित्रतर होता है, और अपने मन को शुभ कामना का कवच पहनाकर धर्मास्त्र से पाप के आक्रमण-मार्ग में नित्य बाधा डालता है।

इस प्रकार कठिन संग्राम-भूमि के बीच से होकर बौद्ध साधक ने जिस अविद्या को कुछ अंशों में जीतकर साधना के शुभ क्षेत्र में प्रवेश किया था अन्त में उस अविद्या की जड़ काटकर उसने बोधि को प्राप्त कर लिया। इसी अवस्था में साधक अपनी क्षुद्र सत्ता को विश्वसत्ता के साथ मिलाकर अपने असली स्वरूप को देख पाता है।

यह जो साधन-प्रणाली की बात कही गई है इसमे एक तरह से कोई नवीनता नहीं है। क्योंकि पूर्ववर्ती आचार्य्य-गण प्रकारान्तर से थोड़ा-बहुत इस मत को स्वीकार कर गये हैं। इस साधना मे जैसे कठोर तपश्चर्या निष्फल कही गई है वैसे ही यम-नियम आदि से रहित भोग-विलास भी निन्दित कहा गया है। बौद्धसाधन-प्रणाली प्रेम-हीन शुष्क ज्ञान नहीं है, अथवा वह ज्ञान विकृत प्रेम या केवल भाव का उन्माद नहीं है। बौद्ध-साधना योग और भोग का सामञ्जस्य है, ज्ञान और प्रेम का समन्वय है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि जितना भी अशुभ है उसका त्याग, मङ्गल कर्म्म का अनुष्ठान, और मन को सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं से छुडाकर ससारी जीवो के साथ एकीभूत करना ही बौद्ध-साधना है।

बौद्ध धर्म दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित है। वह आधार दृढ है या नहीं इसका विचार पण्डित कर सकते हैं। किन्तु इस धर्म के शील और मैत्री ने मनुष्य के हृदय में विशेष रूप से प्रतिष्ठा लाभ की है। ज्ञानरूप से इस धर्म का तत्त्व साधक के हृदय में जिस भाव से पैठना चाहे, पैठे, इस धर्म का जो अंश सब जाति और सब जीवों की सेवा और कल्याण-साधन में प्रेम की शुभ मूर्त्ति धारणकर प्रकट होता है उसकी मनोहारिता अस्वीकार करने का उपाय नहीं। बौद्ध साधुओ ने सबसे पहले दया को ही प्रधान माना है, उन्होंने धूप से

घबराये हुए के लिए वृक्ष की छाया, प्यासे पथिक के लिए मार्ग में जलाशय और विश्राम-भवन, असहाय के लिए अनाथाश्रम और निःसहाय रोगी के लिए औषधालय दान किया है। बौद्ध साधुओं का असाधारण स्वार्थत्याग, संयम, दया और प्रेम का दृष्टान्त पाठकमात्र के चित्त को विस्मित करता है।

बौद्ध साधक का चरमलाभ निर्वाण है। जिस साधन-प्रणाली के द्वारा वे अपने लक्ष्य को पहुँचते हैं उसकी आलोचना करने से ज्ञात होता है कि निर्वाण विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध प्रेम का अन्तिम परिणाम है। यह निर्वाण शून्यता-वाचक नहीं है। इस साधना का निर्वाण, सारी कुप्रवृत्तियों का निर्वाण है, क्षुद्र ममत्व का निर्वाण है, हिंसा-द्वेष आदि पापलालसा की जलती हुई बत्ती का सदा के लिए निर्वाण (शान्त) हो जाना है। एक प्रकार से और कहा जा सकता है निर्वाण—पापप्रवृत्ति का निर्वाण है, परन्तु प्रेम का नहीं, क्षुद्रसत्ता का निर्वाण है, विराट् सत्ता का नहीं, अशुभ का निर्वाण है, कल्याण का नहीं।

दार्शनिकगण नाना प्रकार से निर्वाण की व्याख्या करते हैं, और वे सब अपना-अपना मत समर्थन करने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ दिखलाते हैं। यदि निर्वाण बौद्धशास्त्र की एक शून्यता मात्र मान ली जाय तो भी यह एक अनिर्वचनीय परम पदार्थ है। वह शून्यता "नास्ति"—कुछ नहीं—नहीं है। वह "अस्ति" और "नास्ति" दोनों से पृथक् है, वह मन और वाणी के अगोचर है, अविनाशी और अप्रमेय है। यदि इस

शून्यता को परमात्मा, परब्रह्म, विश्वसत्ता, पूर्णता, Everlasting yea या इसी श्रेणी का और कोई नाम दिया जाय तो वह भारी भ्रम नहीं समझा जायगा। जो शून्यता एकदम नास्ति है वह ऐसी स्पृहणीय नहीं है, जिसके लिए साधक प्राणपण से यत्न करें। ज्ञानमूलक "नेति" के द्वारा बौद्ध साधक अपनी क्षुद्र अहबुद्धि को सकुचित करते हैं। वे "उस्सुकसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुक।"—विषयासक्त मनुष्यों के बीच अनासक्त भाव से रहते हैं। वे विशुद्ध ज्ञान-द्वारा "जिघच्छा परमा रोगा सखारा परमा दुखा।" हिंसा को परम रोग और पूर्वार्जित सस्कार (कर्म) को परम दु:ख जानकर परमसुख निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। और दूसरी ओर से वे अपनी आन्तरिक सत्ता को मैत्री भाव के द्वारा भूलोक से लेकर स्वर्ग-लोक तक व्याप्त कर देते हैं। बौद्ध साधना का यथार्थ मर्म समझने के लिए उन दोनों की ओर बराबर ध्यान रखना होता है।

अन्तिम शय्या पर लेटे हुए महापुरुष बुद्ध ने इस साधना का जो मार्ग बतलाया है वह महापरिनिब्बान सुत्त में वर्णित है। इसमें उन्होंने चार प्रकार के ध्यान, चार प्रकार की धर्मचेष्टा, चार प्रकार के ऋद्धिपाद, पाँच प्रकार के नैतिक बल, सात प्रकार के बोध और आठ प्रकार के मार्ग बतलाये हैं। उनकी बताई यह साधना विशुद्ध ज्ञान और प्रेम की ही साधना है। उरगवग्ग के मेत्तासुत्त में साधक की मैत्री और शुभ-

भावना का जो वर्णन किया गया है वह अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। उसमें कहा गया है कि जो साधक शान्तिपद निर्वाण लाभ करना चाहें वे कर्तव्यपालन में कुशल, सरल, विनीत और निरभिमान हों, उन्हें बहुत थोड़ी वस्तुओं की आवश्यकता होनी चाहिए, वे थोड़े ही में सन्तुष्ट रहें। उनको किसी प्रकार की दुर्भावना का कोई कारण न रहे। वे जितेन्द्रिय, सद्विवेचक, स्थिरचित्त, धीर और अनासक्त हों। वे किसी तरह का साधारण पाप भी न करें, उनके हृदय में यह भावना सदा बनी रहे कि सब जीव सुखी और निरापद हों। वे यह कामना करें कि सबल-दुर्बल, छोटे-बड़े, दृष्ट-अदृष्ट, दूरवर्ती-समीपवर्ती, भूतकाल और भविष्यत्काल के सभी प्राणी सुखी हों। वे न तो किसी को ठगें और न किसी को देखकर घृणा करें, क्रोध के वशवर्ती होकर वे किसी को शाप न दें, किसी की अनिष्ट चिन्ता भी न करें। माता जिस तरह जी-जान होम कर पुत्र की रक्षा करती है उसी तरह वे भी सब जीवों के ऊपर प्रेमभाव और दया-दृष्टि रक्खें। वे संसार में सभी ओर अपनी हिंसा-रहित, शत्रुता-रहित और विघ्न-बाधा-रहित अपरिमेय प्रीति को फैलावें। वे उठते, बैठते, चलते, फिरते सभी अवस्थाओं में मैत्री-भाव की ओर चित्त को लगाये रहें। चित्त की इसी अवस्था को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है। बौद्धशास्त्र ने इसको "ब्रह्मविहार" या "साधु जीवन" कहा है। बौद्धसाधना के शीर्षस्थान में यह अनिर्वचनीय मैत्री और मङ्गलधर्म विराजमान है। यह

पवित्र साधना मनुष्य को परिणाम में विनाश की ओर नहीं ले जा सकती। पूज्यपाद कविवर श्रीयुक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक पत्र मे लिखा है—

बुद्धदेव के असल तात्पर्य को समझने के लिए, उनकी शिक्षा में जो भाग निगेटिव है उस ओर देखने से कुछ पता नहीं चलता, जो भाग पोजिटिव है वहीं उसका असल परिचय मिलता है। यदि दु ख का दूर होना ही मुख्य तात्पर्य है तो वासना-निवृत्ति के द्वारा अस्तित्व लोप कर देने ही से थोडे मे कार्य सिद्ध हो जायगा। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से मैत्री जोडने की जरूरत क्या ? इससे तो यही प्रकट होता है कि प्रेम की ही ओर उनका विशेष झुकाव था। हमारा 'अहं' और हमारा प्रेम हमें स्वार्थ की ओर खींचता है, विशुद्ध प्रेम की ओर, आनन्द की ओर नहीं। इसलिए अहंभाव का लोप कर देने से सहज ही वह आनन्द-लोक प्राप्त होगा। "चित्रा" मे "पूर्णिमा" नाम की एक कविता है, उसमें कहा गया है कि मैं एक दिन सन्ध्या-समय नाव पर बैठा सौन्दर्य-तत्त्व के सम्बन्ध में एक पुस्तक पढते-पढते जब थक गया तब उद्विग्न होकर बत्ती बुझा दी। बत्ती बुझते ही नाव की खिडकियों की राह से चाँदनी के प्रवाह ने आकर मेरी कोठरी को प्लावित कर दिया। यह छोटी सी बत्ती मेरी टेबल पर जल रही थी, इससे आकाश भर में व्याप्त चाँदनी घर में नहीं आ सकती थी। नाव से बाहर जो इतनी बडी शोभा भूलोक और स्वर्गलोक को

आच्छन्न किये हुए प्रतीक्षा कर रही थी उसका मुझे पता तक न था। अहभाव हमारा उसी प्रकार का एक साधारण दीपक है। इस छोटे से दीपक ने हमारे हृदय में रहकर हमारी बोध-शक्ति को चारो ओर से ऐसे छिपा रक्खा है कि हम अनन्त-आकाश-व्याप्त आनन्द-राशि को जानते भी नहीं। यह अहङ्कार रूपी दीपक जिस दिन बुझ जायगा उसी दिन वह अनिर्वचनीय आनन्द एक ही क्षण में हमारे निकट पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होगा। इससे स्पष्ट जान पडता है कि बुद्ध का लक्ष्य वही आनन्द है। जब उन्होंने लोक लोकान्तर के जीवो के प्रति मैत्री विस्तार करने को कहा है तब उनकी साधना का चरम फल वही विराट् आनन्द हो सकता है। इस विश्वव्यापी प्रेम को सत्यरूप में प्राप्त करना हो तो अहभाव को लुप्त करना होता है। यही शिक्षा देने के लिए बुद्धदेव अवतीर्ण हुए थे, नहीं तो मनुष्य विशुद्ध आत्महत्या की तत्त्वकथा सुनने के लिए उनके चारो ओर भीड क्यों लगाते ?

महावग्ग के छठे खण्ड में लिच्छवि-सेनानायक निग्रन्थ साधु सिंह के साथ महापुरुष बुद्धदेव की आलोचना का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। उस प्रसङ्ग में बुद्ध ने अपनी साधना के दोनो विभाग स्पष्ट भाव से दिखा दिये हैं। सक्षेपत उसका साराश यही है—

हे सिंह, मैं क्रियाकाण्ड को अस्वीकार करता हूँ यह सत्य है, क्योंकि मेरा उपदेश है कि कोई साधक मनसा, वाचा,

कर्मणा कोई ऐसा काम न करे जो अशुभकारक हो या जो मन में अशुभ भाव उत्पन्न कर दे।

मैं क्रियाकाण्ड को स्वीकार करता हूँ, यह भी सत्य है, क्योंकि मैंने शिक्षा दे रक्खी है कि साधक मन से, वचन से और शरीर से ऐसा ही काम करे जो मङ्गलप्रद हो या जो मन में मङ्गलभाव उपजावे।

हे सिंह, यह सच है कि मैं उच्छेदवाद की घोषणा करता हूँ। क्योंकि मैं अहङ्कार, कामाभिलाष, बुरे विचार और भ्रान्ति के विनाश की घोषणा करता हूँ। किन्तु मैं क्षमा, प्रेम, दाक्षिण्य और सत्य का उच्छेद करने को नहीं कहता।

हे सिंह, मैं मन से, वचन से या शरीर से किसी प्रकार का पाप करना निन्दित या घृणित समझता हूँ।

हे सिंह, मैं अहङ्कार, कामलालसा, अनिष्ट-चिन्तन और भ्रान्ति के विनाश का प्रचार करता हूँ, मैं कल्याणभाव के विनाश की घोषणा नहीं करता।

बुद्ध के उल्लिखित वाक्यों से हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि बौद्धसाधना निरी आत्महत्या की साधना नहीं है। बौद्ध-साधक अपने अहङ्कार और काम-लालसा से चित्त को विमुक्त कर जो शान्तिप्रद निर्वाण प्राप्त करते हैं वही अवस्था साधना की सर्वोत्तम अवस्था है या नहीं, यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। अध्यात्मतत्त्व के सम्बन्ध में बुद्ध के निर्वाण-विषयक सन्नाटे (नि स्तब्धता) पर विचार करके कोई-कोई

समझते हैं कि मनुष्य की बुद्धि जिस आत्मसम्बन्धी उच्चतम अवस्था की कल्पना कर सकती है, उसके परे और भी अति उच्चतम अवस्था है, यह भी स्वीकार करना होगा। बुद्ध की अनन्त-व्यापिनी आध्यात्मिक दृष्टि निर्वाण के सीमाहीन आकाश को भेद करके दूसरे किनारे तक पहुँच गई थी, उनकी निःस्तब्धता ही इसका एक प्रमाण है। वे अपने अनुगत भक्तों और साधारण लोगों की दृष्टि के सम्मुख शान्ति और कल्याण की खानि निर्वाण-लोक स्थापित करके सन्तुष्ट थे, उन्होंने यह नहीं कहा कि इस लोक के परे और भी कोई लोक है।

बुद्ध की इस निर्वाण-साधना में एक विशेष चमत्कार है। उन्होंने साधक के सम्मुख एक विशेष मार्ग चित्रित कर दिया है। साधक इस मार्ग पर एकमात्र आत्मशक्ति के भरोसे चलेंगे, किन्तु उनको कहीं संशय के गढ़े में गिर कर मरने की नौबत नहीं आवेगी। साधक को चलने, बोलने, सोचने, ध्यान और मनन करने के समय आदि सब बातों का उपदेश विशद रूप से दिया गया है। शुभ-मार्गगामी साधकों को जितना इङ्गित करने से वे लक्ष्य-स्थान तक पहुँच सकते हैं, उनके लिए उन्होंने उतना ही इशारे से जता दिया है। रोगी को उन्होंने दवा दी, परन्तु अनावश्यक जानकर उन्होंने उसे उसकी व्याधि का मूल कारण नहीं बताया। पूछे जाने पर भी बुद्धदेव अनेक दुर्ज्ञेय तत्त्वों का गुप्त विषय किसी से नहीं कहते थे। उनका यह मौनावलम्बन ही निन्दकों के आक्रमण



बुद्ध (परिव्राजक)

बौद्धसाधक का आदर्श

जीव के अत्याज्य दुःख ने महापुरुष बुद्ध के चित्त को करुणा से द्रवित कर दिया था। उन्होंने जिस आष्टाङ्गिक साधन-मार्ग का आविष्कार किया है उसकी साधन-प्रणाली दुःख-निवृत्ति की ही साधना है। साधना-द्वारा सिद्धि प्राप्त करके उन्होंने ज्ञान-नेत्र से शोकशल्य का नियत स्थान जान कर ही सब जीवों के हितार्थ यह शुभ मार्ग दिखा दिया है।

निर्वाण प्राप्त करने के लिए जिनका चित्त व्याकुल हो उठता है उन मुमुक्षुओं में तीन श्रेणियों के साधक देख पड़ते हैं। इनका एक दल बुद्धदेव की वाणी को शिरोधार्य करके उन्हीं के निर्धारित मार्ग पर चलता है। दुःख का अस्तित्व, उसकी उत्पत्ति, निवृत्ति और निवृत्ति का उपाय—इस आर्यचतुष्टय सत्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके निर्वाणपद की प्राप्ति ही उनका एक-मात्र लक्ष्य है। ये "श्रावक" कहे जाते हैं।

दूसरी श्रेणी के साधक भी निर्मल ज्ञान के द्वारा निर्वाण-पद-प्राप्ति के निमित्त बुद्ध के बताये मार्ग पर चलते हैं। जन्म लेने के कारण जीवगण जरा-व्याधि और मृत्यु की यातना



बुद्ध (परिव्राजक)

सहते हैं। इसलिए ये ज्ञान के सहारे देखते हैं कि अविद्या से कार्यकारण की परम्परा द्वारा जीव की उत्पत्ति कैसे हुई और उस कारण का ज्ञान प्राप्त करके ये निर्वाण प्राप्त करते हैं। ये "प्रत्येक बुद्ध" नाम से विख्यात हैं।

तीसरी श्रेणी के साधकगण "बुद्धत्व" और "सर्वज्ञत्व" प्राप्त करने के लिए पूर्ववर्ती बुद्धों की भाँति निर्वाणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। विश्वप्लाविनी करुणा की प्रेरणा से ये समस्त देव-मानव के सुख-कल्याण की कामना करके निर्वाणसाधन करते हैं। ये "बोधिसत्त्व महासत्त्व" कहलाते हैं।

उक्त तीनों श्रेणियों के साधक निर्वाणसाधना में प्रवृत्त होते हैं, फिर भी श्रावक और प्रत्येक बुद्धों की साधना के साथ बोधिसत्त्वों की साधना में आकाश पाताल का अन्तर देख पडता है। बोधिसत्त्व कभी संसार के कोलाहल से दूर होकर, एकान्त गिरि गुहा में जा करके, देह की अनित्यता पर ध्यान नहीं देते, अपने सुख और कल्याण के लिए वे रत्ती भर भी उत्कण्ठित नहीं होते, प्रकृत शान्ति के लोभ से वे निर्जनता की खोज न करके सब जीवों की निर्वाण-साधना के निमित्त संसार के झमेले में ही रहते हैं। जो नर-नारी अविद्या के कारण बारम्बार जन्म लेकर दुःख भोगते हैं उनके हितार्थ पूर्वोल्लिखित साधक अपनी समग्र शक्ति लगा देते हैं। उनके निकट वे निर्वाण की अमृत-मयी वाणी का प्रचार करते हैं।

अपने कल्याणार्थ, अपने दुःख की निवृत्ति के लिए, श्रावक और प्रत्येक बुद्धगण कठिन साधना में प्रवृत्त होते हैं। उनकी साधना प्रेममूलक नहीं है। अनन्त प्राणियों के अशेष दुःखों पर वे लोग विचार नहीं करते। इसलिए वे लोग वासना का उच्छेद करके निर्वाणपद प्राप्त करते हैं। यह निर्वाण, वासना का निर्वाणमात्र है। प्रेम, करुणा और दाक्षिण्य का चरम प्रकाश नहीं है, क्योंकि ये साधना के अन्त में जो सफलता प्राप्त करते हैं उससे साधारण दुःखी मनुष्यों का विशेष उपकार नहीं होता। सिद्धि-प्राप्ति के अनन्तर वे पापभार से आक्रान्त साधारण नर नारियों के साथ मिलने में भी सकुचित होते हैं। उनकी धारणा यही है कि सब जीवों की निर्वाण-साधना उनके व्यक्तिगत ज्ञान और शक्ति से बाहर की बात है।

किन्तु बोधिसत्त्व अपने को बुद्ध के ही स्थानापन्न समझते हैं। संसार-समुद्र को अकेले ही लाँघ जाने में वे सुखी नहीं होते। वे कहते हैं—‘हम बुद्धत्व और सर्वज्ञत्व लाभ करके स्वयं जैसे संसार-समुद्र के पार होंगे, वैसे समस्त देव मनुष्यों को पार उतारने के लिए प्राणपण से यत्न करेंगे। जब हम देख रहे हैं कि, हमारे पड़ोसी हमारी ही तरह दुःसह दुःख का बोझ ढो रहे हैं तब हम केवल अपना ही दुःख दूर करने के लिए क्योंकर व्यग्र होंगे?” इसलिए वे सब जीवों के दुःख का बोझ अपने सिर पर लेकर असाध्य साधन में प्रवृत्त होते हैं।

ये कठिन साहसी साधक किस भावना से प्रेरित होकर इस साधन-समरक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं? वे सोचते हैं, अविद्या के वश जीवगण दिन-रात पापकर्म में प्रवृत्त रहते हैं और उसी के फल से अशेष क्लेश भोगते हैं। उनका दुःख वर्णनातीत है। वे लोग बुद्ध को नहीं मानते, वे मङ्गलमय उपदेश को ग्राह्य नहीं करते, साधकों के ऊपर भी उनकी श्रद्धा नहीं रहती। इन बातों के सोचने से पहले तो बोधिसत्त्व का चित्त शोकान्धकार से ढक जाता है, फिर वह शोक क्षीण होते ही जीवों की सेवा के लिए उनके हृदय में अटल साधु सङ्कल्प जाग उठता है। तब वे सब जीवों की अविद्या का बोझ अपने ऊपर लेकर सब के निमित्त निर्वाण-साधना में प्रवृत्त होते हैं। उनका बोझ कितना ही भारी क्यों न हो, सङ्कल्प के सुदृढ कवच से सुरक्षित उनका हृदय कदापि अधीर नहीं होता। उनकी प्रज्ञा, उनकी करुणा, उनकी मैत्री तथा उनका सत्कर्म सब कुछ अनन्त जीवों के हित-साधन के लिए होता है।

किस व्रत को स्वीकार करके उत्सुकचित्त से नये बोधिसत्त्व साधना में प्रवृत्त होते हैं? सातवीं शताब्दी के बौद्ध ग्रन्थकार शान्तिदेव ने अपने 'बोधिचर्यावतार' ग्रन्थ में उसका विशेष रूप से वर्णन किया है। उसमें कहा है, बोधिसत्त्व इस प्रकार सङ्कल्प करते हैं—बुद्ध महाशयों की आराधना करके उनके शरणागत होकर, अपना पाप स्वीकार करके हम जो पुण्य प्राप्त करें वह जीव के हितार्थ और बोधि के निमित्त खर्च हो।

जो भूखे हो उनके लिए अन्न और प्यासो के लिए हम पानी हो कर रहें। हमने अपने को और अपनी वर्तमान सत्ता तथा जन्म-जन्मान्तर के भावी सत्त्व को जीवों के कल्याणार्थ दान कर दिया। पूर्ववर्ती बुद्धों ने जिस भाव के वशवर्त्ती होकर व्रत धारण किया था उनके निकट हम अपने को अशेष ऋणी मानकर उस भाव का अनुकरण करते हैं और सब जीवों की निर्वाण-साधना में प्रवृत्त होते हैं।

बोधिसत्त्व की यह निर्वाण-साधना उच्छेदमूलक नहीं है। वे एक ओर अपने भोग-विलास की वासना को सम्पूर्णरूप से त्याग करके जैसे स्वार्थमूलक अहंभाव को सकुचित करते हैं, वैसे ही दूसरी ओर दया से द्रवित होकर मैत्री-भावना द्वारा लोक-लोकान्तर के सभी जीवो के साथ अपने को एक कर देते हैं। वे ध्यान-परायण होकर भी दयार्द्र-चित्त, विनयी और सहिष्णु होते हैं। उनके सब कर्म्मों, सारी चेष्टाओं और सब ध्यानो के मूल मे जीव के प्रति अप्रमेय सहानुभूति विद्यमान रहती है। कोई भूलकर भी ऐसा न समझ ले कि व्रत ग्रहण करते ही बोधिसत्त्व सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। पाप-प्रलोभन से उद्धार पाने के लिए वे शील ग्रहण अवश्य करते हैं किन्तु वे जानते हैं कि दूसरों के लिए अपने को सब प्रकार से अर्पण करने ही के लिए उन्होंने शील ग्रहण किया है। जीवों पर दया करने के लिए उन्होंने असीम क्षमा को अपने चित्त का भूषण बना लिया है। कोई अ-

विनीत दुर्जन निष्ठुरात्मा उन पर प्रहार भी करता है तो वे चुपचाप सह लेते हैं, क्रोध नहीं करते। वे समझते हैं कि जब हम देहधारी जीव हैं तब हमको दैहिक कष्ट सहन ही होगा। प्रहारकर्ता व्यक्ति हमारा शत्रु नहीं है, बुद्धगण की ही भाँति परम मित्र है। वह प्रहार करके हमको सहिष्णुता और क्षमाशीलता सीखने का सुअवसर देता है निष्पाप होने के लिए हमको ये दोनों गुण हासिल करने ही होंगे। जो लोग हमारे साथ शत्रुता करेंगे उनसे हम नाराज न होकर उन पर दया करेंगे। बुद्धगण ने जैसे अविचल चित्त से मुक्ति का विचार किया है वैसा ही हम भी करेंगे।

साधन-द्वारा बोधिसत्त्व जिस तरह दिव्य दर्शन और दिव्य श्रवण आदि अलौकिक ऋद्धि प्राप्त करते हैं उसी तरह वे श्रेष्ठतम मङ्गल और शान्ति प्राप्त करके भी कृतार्थ हो जाते हैं। किन्तु व्यक्तिगत हानि-लाभ की ओर उनका ध्यान किसी समय नहीं रहता। वे परम पापी के उद्धार-साधन के लिए अकुण्ठित चित्त से नरक के दुर्गम से भी दुर्गम स्थान में जा सकते हैं। उनका सब तेज, बल, सब उद्यम और सारी चेष्टाएँ जीवों की प्रीति के रस से प्रवाहित हैं। बोधिसत्त्व बुद्धगण की भाँति सम्यक् सम्बुद्ध नहीं हैं। जीव-हित के साधन और उत्साह की अधिकता से उनके कार्य में कितनी ही त्रुटियाँ और कितनी ही भूलें दृष्टिगत होंगी। किन्तु उनका कोई

बौद्धसाधक का निर्वाण

साधना से सिद्धि प्राप्त करके बौद्ध साधक जब रागद्वेष से रहित शान्त-चित्त होते हैं तब उनके मन की अवस्था कैसी होती है? वासना, संस्कार और अविद्या का नाश होने के अनन्तर वे किस अवस्था में रहकर समय बिताते हैं? धम्मपद में लिखा है—जिनके हृदय में रागद्वेष आदि कुछ नहीं है, जिनके चित्त को शान्ति प्राप्त हो चुकी है, जिन्होंने सम्यक्‌रूप से धर्माचरण किया है, उन्हीं भिक्षुओं को अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

हम साधारण मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह अपने सुख की इच्छा से ही करते हैं, हमारे सभी काम स्वार्थ से भरे रहते हैं। इसलिए हम जब सुनते हैं कि हमारा खोटा अहंकार मिथ्या है, हमारी स्वार्थपरता मिथ्या है, संसार का विषय-भोग मिथ्या है, तब हम बड़े ही लज्जित होते हैं। लज्जा का कारण यही है कि हमारे मन में एक ऐसा दृढ़ विश्वास बँधा है कि हमारा स्नेह, प्रीति, दया, माया आदि सभी आनन्द-रस का स्रोत अहङ्कार-रूपी बाँध के भीतर छिपा है। यदि

उनकी साधना-प्रणाली भले ही विचित्र हो, किन्तु उनकी साधना का मूल और उनका परिणाम अभिन्न है। सांसारिक दुःख दुःख ही ने सबको साधना में प्रवृत्त किया है और सभी ने सिद्धि-लाभ करके शुद्ध-हृदय होकर दुःखों से छुटकारा पाया है। सिद्धि-लाभ करने के अनन्तर महापुरुष बद्धजीव नहीं रहते, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। तब वे स्वार्थमूलक ममत्व का लोप होने से अपने सुख के लिए कुछ नहीं करते। जो कुछ करते हैं वह सबके हित की कामना से। प्रशान्तचित्त महापुरुष वही काम करते हैं जिससे सबका कल्याण हो, सब कोई सुखी हों। अविद्या के हाथ से बचकर जब वे दिव्य दृष्टि और धर्म-दृष्टि द्वारा सब देखते हैं तभी जीव के प्रति प्रेम और करुणा से उनका हृदय भर जाता है। यह प्रीति और यह करुणा साधारण मनुष्य के लिए अलभ्य बताकर धम्मपद ने इसी को "अमानुषी रति" के नाम से निर्दिष्ट किया है।

ध्यान के प्रभाव से साधक का चित्त जब प्रशान्त होता है, और वैराग्य-बल से उसका मन जब निर्विकार हो जाता है तभी नित्य सत्य के साथ उसकी भेंट होती है, अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्य के उदय से अविद्यारूपी अन्धकार दूर हो जाता है। उस समय बौद्ध साधक को चतुर्विध आर्यसत्य सूझ पड़ता है। तब वे स्पष्टरूप से समझ जाते हैं कि दुःख क्या है, दुःख कैसे उत्पन्न होता है? दुःख की निवृत्ति क्या है और दुःख की निवृत्ति का उपाय क्या है? जो कोई नीची जमीन में घूमता

है, उसकी दृष्टि को चारों ओर की सकीर्ण सीमा रोक रखती है, किन्तु जब वह पहाड की चोटी पर जा खडा होता है, तब उसकी दृष्टि बहुत दूर तक पहुँचती है। साधना क्षेत्र मे ठीक ऐसी ही बात है। मनुष्य जब तक जरा, व्याधि और मृत्यु की रङ्गभूमि मे विचरता है तब तक अहङ्कार का घेरा उसकी दृष्टि को रोक रखता है, किन्तु जब वह ध्यान के उच्च शिखर पर आरोहण करके नीचे की ओर दृष्टि निक्षेप करता है तब इस जरा, व्याधि और मृत्यु का सत्य स्वरूप उसको प्रत्यक्ष देख पडता है। जो दु ख मे डूबा हुआ है वह दु ख की ज्वाला का अनुभव अवश्य करता है, किन्तु दु ख का असली स्वरूप उसे देख नहीं पडता। साधक दु ख के गढे से बाहर निकलकर ही दु ख का असली रूप देखता है, यही उसका निर्वाण लाभ है।

स्थूल रूप से बौद्धसाधक का निर्वाण, वासना का निर्वाण, सस्कार (पूर्व सञ्चित कर्म) का निर्वाण और दु ख का निर्वाण समझना चाहिए। किन्तु यह निर्वाण केवल लयमात्र नहीं है, क्योंकि मनुष्य का भ्रान्ति से छुटकारामात्र हुआ है, साधना के पूर्व वह नीची भूमि में अवस्थित था इससे जो पदार्थ पहले उसे दिखाई नहीं देता था वही साधना-द्वारा ऊँचे स्थान मे आ जाने से सत्य रूप मे दिखाई देने लगा, बस इतना ही। वैज्ञानिक अपने आलोक-यन्त्र को घुमा-फिरा कर जब एक पट पर प्रकाश डालता है तब उस पट पर भाँति-

भाँति के चित्र प्रतिबिम्बित होते हैं। अनन्त आकाश में प्रकाश डालने से प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर नहीं होता। मनुष्य का अहंभाव भी ऐसा ही एक हृद्गत मोटा कपड़ा है, उसी पर नाना प्रकार के दुःखों और यन्त्रणाओं का रूप प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु उसकी बुद्धि जब स्थूल अहङ्कार को अतिक्रम करके असीम में मिल जाती है तब उसे दुःख का ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार ममत्व का लोप होते ही साधक दुःख से उद्धार पाता है। यही निर्वाण है। इस निर्वाण को केवल विनाश समझना ठीक नहीं। क्योंकि साधक का चित्त ममत्व की सीमा से निकल कर असीम में निमज्जित हो गया। सारी विघ्नबाधा और विकार दूर होने से उसका चित्त सब प्रकार से स्वाधीन हो गया, यही मुक्ति है, यही निर्वाण है, यह विनाश नहीं है।

बौद्ध दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से, अनेक युक्तियों से, निर्वाण के गूढ़ रहस्य की आलोचना की है। वह महान् तत्त्व हम लोगों की आलोचना का विषय नहीं है। हमारा आलोच्य विषय तो यह है कि निर्वाण प्राप्त साधक की अवस्था कैसी होती है। धम्मपद में लिखा है—साधक बुद्धि की स्थिरता सम्पादन करके, शील आदि का आचरण करने में दक्ष होकर, सुख का अनुभव करते-करते दुःख को दूर कर देते हैं। महापुरुष बुद्ध की साधना का जो मनोहर विवरण 'ललितविस्तर' में विशदरूप से वर्णित है, उसमें ग्रन्थकार महाशय ने महापुरुष के मुँह से यह वाणी कहलवाई है—

मनोबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्ड ।
करुणाबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्ड ॥
मुदिताबलेन जित्वा पीतोमेऽस्मिन्नमृतमण्ड ।
भिन्ना मया ह्यविद्या दीप्तेन ज्ञान कठिनवज्रेण ॥

इस बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर, मैत्री-बल से जयलाभ करके, मैं अमृतरस पी रहा हूँ, करुणा-बल से जयलाभ करके मैं अमृतरस पी रहा हूँ, मुदिता के बल से जयलाभ करके मैं अमृतरस पी रहा हूँ। प्रदीप्त ज्ञानरूप कठिन वज्र से मैंने अविद्या का नाश कर डाला है।

यह जो सिद्धि है, इसमें जैसे मैत्री, करुणा और मुदिता है, उसी तरह ममत्व-हीन विशुद्ध ज्ञान है। इस सिद्धि की प्राप्ति करके ही साधक "अमानुषी रति" प्राप्त करते हैं। उनका चित्त अहङ्कार-विहीन नीरस विशुद्ध ज्ञान में उलझा नहीं रहता। सारे ससार का जो कुछ कल्याण है, जो कुछ सुख है, उसी के अनुगत हो जाने से साधक का मन परिपूर्ण आनन्द में प्रविष्ट होता है।

